अध्याय - तृतीय

अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास-साहित्य में अभिव्यक्त चेतना का स्वरूप

प्रकृति अनुदानित भाषा, विचार, भाव, संवेदना तथा समूहन शक्ति आदि विशिष्ट घटकों से संपोषित होने के कारण ही मनुष्य अनादिकाल से ही सामाजिक प्राणी होने का विधान प्राप्त करता रहा है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य और समाज की सत्ता लगभग समानांतर या समान समयावधियों में ही संस्थापित हुई तथा मनुष्य आरंभ से ही समाज के केंद्र बिंदु स्वरूप प्रतिष्ठित रहा है। लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि समाज का अस्तित्व मनुष्य जीवन के प्रादुर्भावोपरांत ही संभव हो सका अर्थात् अनुवांशिकी तथा सभ्यता के विकासानुक्रम में प्रथमत: मनुष्य अस्तित्व में हुए तदोपरांत समाज की सत्ता सुस्थिर हुई। जिस प्रकार से अपने अंतर्गत प्रादुर्भूत संख्यातीत जीवधारियों की बात ही मानव जाति की वर्तमानता को प्रकृति ने आलंबन प्रदान किया उसके अस्तित्व को अक्षुण एवं सत्ता को सर्वकालिक स्वरूप प्रदान करने की बुनियाद निर्मित की, ठीक उसी तरह से अपने बेशकीमती प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता द्वारा उसने मनुष्य के भरण-पोषण तथा जीवन-निर्वाह को भी सुनिश्चित किया।

इस प्रकृति ने मानव जाति को समय-समय पर विभिन्न प्रकार से अपने भावों और विचारों को अभिव्यक्त प्रदान करने के लिए भी प्रेरित किया। सुख-दुःख, हास्य-विनोद, रति, विलास, माया, दया, मानवता, ममता, करुणा, क्रोध, हंसना, रोना आदि भाव एवं मनोविकार तो मनुष्य के पांच तत्वों से निर्मित मांस-पिंण्ड के मूल में ही अंतरभुक्त थे और यथा समय वह इन्हें विविध प्रकार से व्यक्त भी करता रहा था परंतु जैसे-जैसे उसके भौतिक ज्ञान की परिधि प्रकीर्णित होती गई उसकी सोचने-विचारने और अनुसंधान की प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष की ओर अग्रसर हुई वैसे-वैसे उसके भावानुभावों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया और माध्यम में भी व्यापक परिवर्तन देखने को मिला तथा मानव सभ्यता के विकास का एक सोपान ऐसा भी आया जब मनुष्य अपने भाव, विचारों एवं अनुभावों आदि को कायिक अर्थात्

शारीरिक रूप के साथ वाचिक अर्थात् भाषिक रूप में व्यक्त करने लगा। यही से ध्वनियों और लिपियों का विकास समझना चाहिए। ध्वनियों का व्यवस्थित क्रम निर्धारित होने के बाद अर्थात् व्याकरण की संरचना के निर्माण और विकास के उपरांत भाषिक संरचना तथा उसकी अर्थवत्ता का भी विकास हुआ। इसके अनंतर किसी कालखंड में रहस्य भय, आनंद, आह्लाद व भरण-पोषण आदि का संगठित पर्याय रही प्रकृति को मनुष्य ने अपने सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि में सहभागी वास्तविक हितैषी के रूप में स्वीकार कर लिया इसके बाद उसके भाव विचारों की अभिव्यक्ति शैली, गति, माध्यम तथा स्वरूप आदि में भी अमूल-चूल परिवर्तन, दृष्टिगोचर हुआ। बसंत ऋतु या मधुमास के मौसम में समीर के झोको से हिलते हुए नये किसलय पुंजों को देखकर उसे अनुभूत हुआ कि मानों वे उसे अपनी नन्ही-नन्हीं कोयल बाल अंगुलियों से अपने पास बुला रहे हो।

प्रकृति के मानवीकरण के इसी सिद्धांत के सापेक्ष वर्षा ऋतु में आसमान में जगह-जगह छाये काले बादल अनायास ही मनुष्य को किसी नवयुवती की केशराशि के समान प्रतीत हुए वायुवेग से विचरण करते इन्ही बादलों के माध्यम से महाकवि कालिदास जैसे विद्वान पुरुष अलकापूर में बैठी प्रेयसी के पास संदेश भेजने लगे। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के ताप से सूखी हुई वनस्पतियों को देखकर किसी प्रोषितपतिका ने अपने प्रियतम की याद में जल रहे अपने हृदय की ताप को कारण बताया था फिर आपादग्रस्त स्थिति में मनुष्य ने निर्जन-वन में जाकर पशु-पंक्षियों और वनस्पतियों के सम्मुख अरण्यरोदन करते हुए अपनी समस्याओं के समाधान हेतु इनसे अभीष्ट उत्तर की प्रतीक्षा कैसे लगा ले। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम को 'हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी, तुम देखी सीता मृगनैनी' का जवाब तो नहीं मिलता है लेकिन सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत में नागमती की विरह-वेदना पक्षी को बोलने पर विवश कर देती है- 'आधीरात विहंगम बोला' ध्यातव्य है कि भावानुभावों या फिर वेदना के उत्कर्ष पर पहुँचने के उपरांत मनुष्य की वाणी से जो कुछ भी व्यंजित हुआ उसकी प्रेरक-प्रादुर्भावक प्रकृति ही

रही है। आदिकवि वाल्मीकि के जिस श्लोक से लौकिक साहित्य का आरम्भ माना जाता है वे भी तो वेदना के चरमोत्कर्ष स्वरूप से ही प्रस्फुटित हुए थे। असंख्य अवसरों पर ऐसी अवस्थाएँ निर्मित होती रही हैं जिसमें आदिकवि के समान मनुष्य के मुख से कुछ श्लोक या पंक्तियाँ प्रस्फुटित हुई जिनके सम्मिलन से लौकिक साहित्य अस्तित्ववान हुआ। आरम्भ में इसकी प्रकृति मौखिक ही थी परंतु कुछ कालावधि के पश्चात या यो कहें कि दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के उद्देश्य से इन्हें ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण किया जाने लगा। कालांतर में मुद्रणालयों और छापाखानो के विकास के बाद इन्हें कागजो पर उत्कीर्णित किया जाने लेगा परिणामस्वरूप लिखित साहित्य की क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित परम्परा का प्रवर्तन हुआ।

प्रकृति के विशाल प्रांगण में लालित्य अर्थात् सुन्दरता तथा रमणीयता के योग से उत्पन्न गीत, संगीत, नृत्य और नाटक आदि ललित कलाओं की तरह ही सत्यम्, शिवम व सन्दरम् अर्थात् सत्यता, नित्यता तथा सुन्दरता नामक तीनों गुणों की सर्वोत्तम व प्रभावशाली अभिव्यक्ति करने वाली कला साहित्य है। यद्यपि भारतीय साहित्य के संदर्भ में या यों कहें कि संस्कृत काव्यशास्त्र में साहित्य को काव्य या नाटक के अर्थ में तथा पश्चिमी भू-भाग में इसे कला के अर्थ में ग्रहण करने की परम्परा रही है लेकिन भावानुभावों एवं विचारों की जैसी तीव्रानुभुति साहित्य के द्वारा संभव होती है वैसी अन्य किसी कला के द्वारा नहीं। हालाँकि संगीत और नाटकादि ललित कलाएँ सौंदर्य का बोध तो अनिवार्य रूप से करवाती हैं लेकिन इनमें प्राय: गतिशीलता का नितांत अभाव रहता है। दूसरी ललित कलाएँ जहाँ अधिकांशतःमनोरंजन प्रधान ही होती हैं वहीं साहित्य मनोरंजन की समतुल्यता में जीवन के प्रति आसक्ति, कर्तव्यबोध तथा अस्तित्वबोध को अधिक महत्व देता है। अपनी अर्थवत्ता में ही व्यापक लोकमंगल को लेकर चलने वाला साहित्य दो शब्दों- हित और सहित से मिलकर बना है जिसका सम्मिलित अर्थ हुआ- हित अर्थात् कल्याण सहित इस तरह से साहित्य का अर्थ हुआ- व्यक्ति अथवा समाज का हित या कल्याण करने वाला। साहित्य एवं समाज में परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध होता है तथा दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं इसलिए किसी

एक की अनुपस्थिति में दूसरे की सत्ता स्वतः ही संकटग्रस्त हो जाती है। जैसे साहित्य की वर्तमानता में समाज या व्यक्ति की उपस्थिति सन्निहित होती है वैसे ही समाज अथवा व्यक्ति के चतुर्मुखी विकास के समाज की प्रासंगिकता भी अपेक्षित होती है। इस तरह से समाज की निवर्तमानता में जहाँ साहित्य प्राणविहीन मनुष्य के समान होता है तो वही साहित्य की अनुपस्थिति में समाज किसी विकलांग व्यक्ति के समान होता है जिसकी सांसे तो चलती रहती हैं लेकिन वह अपनी उन्नति करने में असमर्थ होता है।

इसी सर्वमान्य सैद्धांतिकी के सापेक्ष साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा गया है क्योकि एक रचनाकार जिस समाज अथवा परिवेश से अंतर्संबंधित होता है प्रायः उससे संबंधित घटनाओं परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित स्वरूप शब्दांकित करके समाज के सम्मुख उपस्थित कर देता है। यद्यपि मेरी दृष्टि में रचना एवं रचनाकार का संबंध व्यक्ति और दर्पण के सामाजिक संबंध की अपेक्षा कही अधिक सार्थक एवं उपादेय होता है। दर्पण तो वस्तु का वास्तविक प्रतिबिम्ब निर्मित करके ही अपने कार्यों की इतिश्री कर देता है लेकिन साहित्य-सर्जक अपने वांग्मय में समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं का यथार्थांकन करते हुए उनका कारण भी बताता है तथा उनके निदान हेतु आवश्यक समाधान भी सुझाता है। साहित्य अतीत के सहारे वर्तमान में किये जाने वाले कार्यों का भविष्योन्मुखी परिणाम भी बताते हुए कार्य एवं कारण के बीच के संबंधो को रेखांकित कर समाज को गलत मार्ग पर चलने से रोकता है। साहित्य का उद्देश्य अत्यंत अभिव्यापक होता है। कल्पना एवं यथार्थ के यथेष्ट समाहार द्वारा यह एक तरफ जहाँ विसंगतियों और विद्रूपताओं की भी (राष्ट्र के कर्णधारों का ध्यान आकर्षित करता है वही दूसरी तरफ कर समाज की अच्छाईयों तथा सकारात्मक प्रवृत्तियों का चित्रण करके समाज को प्रेरित भी करता है। इसी तरह समाज में प्रकीर्णित विसंगतियों को दूर करने का उपाय बताते हुए रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत कर समाज के मूल्यों और मानदण्डों का निर्धारण व पहले से स्थापित मूल्य व प्रतिमानों का प्रचार-प्रसार करना भी साहित्य का ही कार्य होता है। अपने देशकाल एवं

वातावरण को दृष्टिगत रखते हुए रचनाकार अपनी रचनाओं में समाज की उन्हीं घटनाओं, प्रवृत्तियों, आवश्यकताओं तथा महत्वाकांक्षाओं आदि को विषय-वस्तु बनता है जो व्यापक सामाजिक सरोकारों से जुड़ी होती हैं।

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से स्पष्ट है कि साहित्य का प्रवर्तन भाषाओं या बोलियों के उद्भव व विकास के अनंतर ही हुआ। जैसे स्वयं को आत्मानुशासन बद्ध रखने के लिए मानव-जाति ने समाज का सहारा लिया वैसे ही अपने भावानुभावों, विचारों आदि की अभिव्यक्ति के लिए उसने साहित्य का सहारा लिया। प्रकृति के सुविस्तृत प्रांगण में अपने भावानुभावों के अनुरूप प्राकृतिक परिवेश को गाकर या गुनगुनाकर अंतर्मन को हल्का करने की प्रवृत्ति मनुष्य में जन्मना रही है और इसी प्रवृत्ति से प्रथमतःभाषा एवं उसके पश्चात् साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। विश्व की समस्त भाषाओं या बोलियों के प्रादुर्भाव तथा विकास में यदि संवाद को केन्द्रीय कारण मान लिया जाय तो उसमे भावानुभावों के आदान-प्रदान की भूमिका को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। साहित्य का आधार तो भावानुभाव ही होते है इसलिए स्वाभाविक है कि वाङ्मय के विकास में प्रकृति की मादकता, रमणीयता आदि के अतिरिक्त मानवीय भावानुभूतियों की भी आधारिक आवश्यकता होती हो। अतः यदि साहित्य की स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति मात्र स्वीकार कर लिया जाय तो इसकी अर्थगत एवं उद्देश्यगत आयामिक विस्तीर्षता अत्यंत संकुचित हो जायेगी। कारण यह है कि अंतर्मन की अभिव्यक्ति का रचनाकार के व्यक्तिगत मानसिक और भौतिक परिवेश से ही संदर्भित हो सकती है और ऐसे में साहित्य का दूसरा पक्ष 'समाज', जो कि रचनात्मक दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है- उपेक्षित हो जायेगा और साहित्य अपने केन्द्रीय उद्देश्य 'लोकमंगल' के स्थान पर रचनाकार विशेष के भावों-विचारों का अनर्गल प्रलाप मात्र बनकर रह जायेगा। कथा-सम्राट मुंशी प्रेमचंद ने सन् 1936 ई॰ में दिए अपने ऐतिहासिक भाषण- 'साहित्य का उद्देश्य' में साहित्य को इन्ही अर्थों में पारिभाषित करते हुए कहा था कि- "परन्तु मेरा अभिप्राय यह नहीं है? कि जो कुछ लिख दिया जाय वह सबका सब साहित्य है। साहित्य

उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गयी हो जिसकी भाषा प्रौढ परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमे दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह पूर्ण रूप से उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हो।"

अभिकथन का अभिप्राय यह है कि साहित्य में रचनाकार की स्वानुभूति के साथ-साथ उसके परिवेशगत सामाजिक यथार्थ का होना भी अपरिहार्य होता है। अपने द्वारा देखी गयी या अनुभूत सामाजिक यथार्थताओं को सर्जक कल्पना के आश्रय तीव्र मनोवेगों के साथ शुद्ध रूप में लोगों तक पहुँचाकर उन्हें उनकी विसंगतियों अथवा अच्छाइयों का परिज्ञान ही नहीं कराता है अपितु उसमें अंतर्भुक्त विद्रूपताओं के निवारणार्थ उन्हें प्रयत्नशील भी बनाता है। यही कारण है कि रचना और रचनाकार का सामाजिक एवं नैतिक उत्तरदायित्व दर्पण और प्रतिबिम्ब की तुलना में कई गुना बढ़ जाता है तथा साहित्य और समाज में भी प्राणवायु का संबंध सुस्थित और साहित्य की समृद्धि के लिए एक गत्यात्मक समाज की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। इसमें दोनों की सार्थकता और इसे ही दोनों का पारम्परिक अंतर्संबध भी समझना चाहिए।

अपने उद्भव व विकास से लेकर वर्तमान तक की सुदीर्घ यात्रा में साहित्य यथासमय अपना स्वरूप भी परिवर्तित करता रहा है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि समय के प्रत्येक सोपान पर साहित्य अपने स्वरूप में भी विविधता का समावेश करता रहा है। भारतीय साहित्य के संदर्भ में देखें तो आधुनिक भारतीय भाषाओं के अस्तित्व में आने से पूर्व संस्कृत साहित्य में इसका आरम्भिक स्वरूप काव्य का था ठीक वैसे ही जैसे कि पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्राचीन अनुभाग में इसे कला के अंतर्गत रखा गया था लेकिन जैसे-जैसे संस्कृत गद्य का विकास हुआ वैसे-वैसे इसके स्वरूप में भी विविधता आयी और तब यह काव्य के साथ-साथ नाटक के स्वरूप में भी पहचाना जाने लगा। आधुनिक काल में या यों

कहें कि भारतीय साहित्य के आधुनिक कालखण्ड में इसकी स्वरूपगत विविधता और भी बढ़ गयी। सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में कमोवेश आधुनिक काल में ही काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबंध, रिपोर्ताज, आलोचना, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत्तांत, जीवनी, एवं आत्मकथा आदि साहित्यिक विधाओं के जन्म से साहित्य के स्वरूप में विविधता तो आयी ही साथ ही साहित्यानुरागियों, सहृदयो, तथा रसिकों की संख्या में भी अभूतपूर्व वृद्धि है। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में देखे तो खड़ी बोली की साहित्यिक प्रतिष्ठापना, गद्य का प्रवर्तन एवं नवीन साहित्यिक विधाओ का उन्मेष आदि आधुनिक काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ रही है। इन नवीन विधाओं के मानदण्ड निर्धारण में समालोचक अथवा साहित्य-मीमांसक सामाजिक प्रासंगिक अथवा लोककल्याण को ही केन्द्र में रखकर चले है जिसके कारण आत्मपरक होकर भी इन विधाओं के सर्जक इसमें सामाजिक संदर्भों की अवहेलना नहीं कर सके हैं जो कि मनोरंजनपरक या व्यावसायिक साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति होती है। इन आधुनिक साहित्यिक विधाओं में सर्वाधिक ख्यातिलब्ध विधा उपन्यास है जो कि अपनी वर्तमान प्रकृति एवं संरचना में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अस्तित्व में आयी। पश्चिमी साहित्य में 'नॉवेल' के रूप में प्रवर्तित होने वाली यह साहित्यिक विधा योरोपीय महाद्वीप में अंग्रेजी साहित्य से अपनी साहित्यिक यात्रा आरम्भ करके बंगप्रदेश मे उपन्यास के नाम से प्रवेश करती है और इसके उपरांत धीरे-धीरे इसकी भौगोलिक विस्तीर्णता अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य तक भी हो जाती है। क्योंकि हिन्दी प्रदेश, बंग प्रदेश का समीपवर्ती है इसलिए बांग्ला साहित्य में प्रवेश करने के बाद यह बहुत जल्द ही हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी प्रविष्ट कर गयी। यद्यपि कादम्बरी और आख्यायिका आदि की प्रकृति में उपन्यास विधा का प्रवर्तन अंग्रेजी उपन्यासों के आगमन से बहुत पहले संस्कृत एवं मराठी आदि भाषाओं में हो चुका था लेकिन जिस वर्तमान अर्थ और स्वरूप में हम उपन्यास को जानते हैं उसका प्रवर्तन आधुनिक काल में अंग्रेजी उपन्यासों के प्रभाव से ही हुआ।

उपन्यास का शाब्दिक अर्थ- सामने रखना होता है। यह साहित्य की सभी विधाओं मे सर्वाधिक विस्तृत स्वरूप वाली विधा है जिसमें कौतूहल के उत्कर्ष द्वारा सहृदयों का प्रासादन किया जाता है। इसमें विषयवस्तु का संघटन और संयोजन इस तरह से करने पर बल होता है जिसमे कि सहृदय की जिज्ञास आदि मध्य और अंत तीनों सोपानों पर बनी रहे और अंतिम सोपान पर उसकी जिज्ञासा का शमन हो जाए तथा उसे प्रसन्नता मिले। इसी प्रसन्नता एवं कौतुहलता को उपन्यस्त करना अर्थात् सामने रखना ही उपन्यास कहलाता है। साहित्यदर्पणकार ने दृश्य काव्य के अंतर्गत आने वाली भषिका का एक भेदमाना है तो पं० अम्बिकादत्तव्यास की दृष्टि में यह गद्य काव्यमीमांसा तया पं० रामदरदास के साहित्यालोचन में इसे गद्यकाव्य की श्रेणी में रखा गया है। 'अस' धातु में पहले 'नि' उपसर्ग लगाने से 'न्यास' शब्द बना जिसका अर्थ धरोहर होता है। फिर इसी 'न्यास' शब्द में 'उप' उपसर्ग लगाने ने 'उपन्यास' शब्द अस्तित्ववान हुआ 'उप' उपसर्ग समीपवाची है। इस प्रकार से 'उपन्यास' शब्द का अर्थ हुआ सामने रखना। साहित्यिक शब्दों मे कहना चाहें तो कह सकते हैं कि परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, घटनाओ आदि को स्पष्टतः सामने रखना ही उपन्यास कहलाता है। हिन्दी में यह शब्द दीर्घ कथा के लिए प्रयुक्त होता है। आख्यायिका, प्रबन्ध कल्पित कथा, अभिनव की अलौकिक कल्पना, प्रबन्ध कल्पना, आश्चर्य वृत्तांतकथा, गधकाव्य, नवन्यास, सांस्कृतिक वार्ता आदि उपन्यास के प्राचीन नाम रहे हैं। इसी तरह इसे अंग्रेजी में नावेल, मराठी में कादम्बरी, बंगला में उपन्यास, गुजराती में नवलकथा तथा उर्दू में नावले आदि शब्दो से अभिहित किया जाता रहा है।

उपन्यास की सत्ता मानव-चेतना की उत्सु की वृत्ति के विकास के सापेक्ष ही सुस्थित हो गयी थी जिसमें वह अपनत्व की भावना से पारस्परिक विचार-विनिमय दिया करता था। मानवीय सभ्यता के विकासानुक्रम में मानव ने अपनी भावाभिव्यक्तियों के लिए भाषा और लिपि को आधार बनाया। जैसे-जैसे उसका सांसारिक ज्ञान अर्थात् चेतना बढ़ती गयी वैसे-वैसे भौतिक जगत के प्रति उसकी जिज्ञास प्रवृत्ति में भी वृद्धि हुई अपनी इन कौतुहलताओं

के शमन के लिए वह नित्य प्रति नवीन अनुसंधानों में प्रवृत्त हुआ तथा इसके अनंतर वह कभी कल्पनाओं पर आश्रित तो कभी निरा यथार्थवादी घटनाओं पर केन्द्रित छोटी-बड़ी कहानियाँ कहने एवं सुनने लगा। कल्पनालोक में उसकी ऊँची उड़ान की असीम सम्भावनाओं और जिज्ञासिक मनोवृत्ति ने कालांतर में मनुष्य के मनोविज्ञान से सामंजस्य स्थापित करते हुए किसी भी तरह की कौतुहलपूर्ण घटनाओं के वाचन एवं श्रवण की उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति में परिवर्तित कर दिया।

अपनी इस नैसर्गिक वृत्ति को अपने सम्पूर्ण जीवन काल में यथासमय पृथक-पृथक उद्देश्यों से वह व्यवहार में लाता रहा। इस समग्र अनुक्रिया-प्रक्रिया में कुछ घटना-वृत्तांत या कौतुहलपूर्ण वाचन-श्रवण व्यापक स्वरूप वाले अर्थात् लम्बे बन पड़े जिससे उपन्यास विधा का प्रवर्तन समझना चाहिए। कल्पना की असीम संभावनाओं कौतुहलता की पराकाष्ठाओं, स्वानुभूति के अतिरिक्त यथार्थपरकता की परिधीय विस्तीर्णताओं आदि प्रवृत्तियों की पोषक उपन्यास विधा की संरचनात्मक प्रसारता इसकी अभिव्यापक ख्यातिलब्धता एवं सार्वग्राह्यता की आधारिक कारण कही जा सकती है। कहानी की भाँति ही उपन्यास भी अपने आरम्भिक स्वरूप से ही सार्वभौमिक प्रकृति में प्रत्येक समाज के साहित्य तक प्रसारित रहा है। भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में उपन्यास लेखन की परम्परा को वैदिक युग से सम्बद्ध किया जा सकता है जहाँ सनातन हिंदू धर्म ग्रंथों में राजाओं और राजकुमारों आदि के शौर्य, पराक्रम, प्रेम, ज्ञान, वैराग्य, विजय न्यायिक प्रवीणता, युद्ध कौशलता, साहस, धैर्य, दूसरे प्रदेशों पर अधिकार युद्ध में राजकुमारियों को जीतना, दैवीय शक्ति, श्राप देने की दक्षता तथा अपहरण आदि से संबंधित संख्यातीत छोटी-बड़ी कहानियाँ मिलती है जिनमें से कुछ औपन्यासिक स्वरूपों वाली भी हैं। इन वृत्तांतों की कथावस्तु घटना-प्रधान, संवेदनात्मक, कौतुहलयुक्त व नायकत्व से परिपूर्ण दिखाई देती है। गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' जिसमे राजा उदयन एवं वासवदत्ता की प्रेमकथा के अतिरिक्त राजकुमारों के शौर्य, पराकम, राजकुमारियों के अद्भूत सौंदर्य और समर्पण तथा समूद्री व्यापारियों के साहस आदि को

केन्द्र में रखा गया है। इस विधा की प्राचीनतम सर्जना कहा जा सकता है। लौकिक संस्कृत साहित्य में भी उपन्यासों का सृजन अनवरत जारी रहा। हालाँकि यहाँ उपन्यास के स्वरूप वाली रचनाओं को उपन्यास न कहकर खण्डकाव्य, महाकाव्य नाटक आदि नामों से अभिहित किया जाता रहा। उपन्यास हो या कहानी, नाटक हो या खण्डकाव्य अथवा महाकाव्य-सभी में घटना-वृत्तांत ही केन्द्र में होता है इसलिए खण्डकाव्यों, नाटकों या महाकाव्यों को उपन्यास कह देने से भ्रमित नहीं होना चाहिए इनमें भेद तो केवल स्वरुपगत विस्तार या संकुचन का ही होता है अर्थात् एक एकाधिक कहानियों अथवा घटना-वृत्तांतों के संयोजन से ही उन सभी की संरचना निर्मित होती है। ऐसे में दण्डी के दशकुमारचरितम्, बाणभट्ट की कादम्बरी, सुबन्धु कृत वासवदत्ता, भारवि के किरातार्जुनीयम, भवभूति उत्तररामचरितम, कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम व मालती माधवम् आदि को भी नाट्यपरक उपन्यास की श्रेणी में रखा जा सकता है जो कि गद्य-पद्य में लिखित दीर्घकाय कहानियाँ हैं। इन रचनाओं की सापेक्षता में पंचतंत्र, हितोपदेश, भोजप्रबंध कथासरितसागर और माधवानल कामकंदला को लघु आकार के नाट्यपरक उपन्यास कहा जा सकता है जो कि कलात्मक दृष्टि से आधुनिक उपन्यासों के अधिक समीप दिखाई देती हैं।

वैदिक या लौकिक संस्कृत संबंधी उपर्युक्त जिन बृहत्काय कहानियों या वृत्तांतों का वर्णन किया गया है वे शुद्ध औपन्यासिक प्रकृति की न होकर नाटक, महाकाव्य व खण्डकाव्य आदि स्वरूपों वाली रही हैं तथा इनमें से अधिकांश का उद्देश्य मनोरंजन करना, प्रशंसा करना है या नीतिपरक उपदेश देना आदि है। यद्यपि इनमे असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की, अधर्म पर धर्म की, युद्ध पर प्रेम की, अनाचार पर आचार की, अनैतिकता पर नैतिकता की विजय दिखाना ही रचनाकारों का केन्द्रीय उद्देश्य रहा है और अपने इसी उद्देश्य के सापेक्ष वे इनकी कथावस्तु को विस्तार दिए हैं परंतु शुद्ध प्रकृति के उपन्यास की श्रेणी से बाहर रखने पर भी इन्हे आधुनिक किस्म के उपन्यासों का आरम्भिक सोपान स्वीकार करने में किसी तरह की असंगति नहीं होगी।

यद्यपि उपन्यास विधा अव्यवस्थित एवं अपारिभाषित प्रकृति में प्राचीन समय से ही अस्तित्वान दिखाई देती है लेकिन वर्तमान साहित्यिक संदर्भों में समालोचनात्मक प्रतिमानों पर आधारित जिन्हें शुद्ध स्वरूप के उपन्यास कहा या माना जाता है उनकी अस्मिता या प्रादुर्भाव एक नितांत नवीन साहित्यिक परिघटना है। हिन्दी साहित्य के संदर्भ में यह घटना उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में घटित हुई जिसके घटने में पाश्चात्य साहित्य केन्द्रीय प्रभाव रहा। आलोचना सम्राट आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार- "योरप में जो नए ढंग के कथानक नावेल के नाम से चले और बंगभाषा में आकर उपन्यास कहलाए मराठी में वे कादम्बरी कहलाने लगे। वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरम्भ में रखकर चल सकते हैं और उसमे घटनाओं की श्रृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर-उधर और श्रृंखलाओं से शंकित होती चलती है और अंत में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं व विन्यास की यह वक्रता या वैचित्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।...अंग्रेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थीं। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यंजक खंडचित्रों के रूप में होती थी।" आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त कथन से स्पष्टतःकहा जा सकता है कि वर्तमान साहित्य की सर्वाधिक चर्चित उपन्यास विधा अपने अर्थ प्रकृति और प्रवृत्ति आदि में अंग्रेजी के नॉवेल विधा से सर्वाधिक प्रभावित है या फिर उसी का भाषांतरित, भावांतरित या संरचनात्मक विकास है जिसे प्रथमत: बांग्ला साहित्य ने तदोपरांत हिंदी साहित्य ने अपने देशकाल, वातावरण तथा सामाजिक चित्तवृत्तियों के अनुरूप अत्यधिक परिवर्तित स्वरूप में स्वीकार कर लिया है।

हालाँकि उपन्यास या कहानी के प्रादुर्भाव संबंधी आचार्य शुक्ल की पश्चिम वाली अवधारणा से डॉ० रामकुमार वर्मा आदि विधान पूर्वतः सहमत नहीं हैं। वे अपनी परम्परावादी दृष्टि का प्रयोग करते हुए इन उपन्यासों और कहानियों को प्राचीन भारती

साहित्य का श्रृंगार बताते हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि एतद्विषय आचार्य शुक्ल की सैद्धांतिकी निरर्थक या अतार्किक है बल्कि इस संदर्भ में उनका दृष्टिकोण तो और अधिक साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक है। कारण यह है कि शुक्लजी प्रकृति से समालोचक थे जिनका प्रमुख कार्य साहित्य-सृजन और समालोचना का प्रतिमान निर्मित करना था। आज के समय में उपन्यासों की मीमांसा उपन्यास कला के जिन प्रतिमानिक तत्वों के आधार पर की जाती है उन मानदण्डों की कसौटी पर परम्परागत या प्राचीन भारतीय उपन्यासों को कसकर देखने पर स्पष्टत: परिलक्षित होता है कि प्राचीन शास्त्रीय या दैविक कहानियों बौद्ध जातक कथाओं, लौकिक साहित्य की प्रेमपरक, श्रृंगारिक एवं वीरगाथाओं तथा पालि, प्राकृत अपभ्रंश व चारणकालीन दीर्घ कहानियों की समतुल्यता में वर्तमान उपन्यासों की प्रकृति, संरचना, निर्माण प्रक्रिया और उद्देश्य आदि सर्वथा भिन्न है। आधुनिक साहित्य मीमांसा के द्वारा उपन्यासों की समालोचना के लिए उपन्यास कला के तत्व के रुप में कथानक, पात्र एवं चरित्र चित्रण, देशकाल और वातावरण, संवाद या कथोपकथन भाषा-शैली तथा उद्देश्य नामक जो छ: प्रतिमानिक तत्व विकसित या निर्धारित किये गये हैं वे वर्तमान युग के उपन्यासों में ही दृष्टिगोचर होते हैं। ये उपन्यास अपनी संरचना और प्रकृति में अंग्रेजी के नॉवेल के सर्वाधिक समीपस्थ हैं। इन उपन्यासों का घटना-वैचित्य, पात्र-योजना, वस्तु-विन्यास, कथानकीय प्रसारता में उतार-चढ़ाव, शिल्पगत प्रयोग, संरचनात्मक विधान तथा अभिव्यंजना शैली आदि सभी कुछ नॉवेल से ही प्रेरित-प्रभावित है। अत: इस दृष्टि से आधुनिक प्रकृति उपन्यासों का प्रादुर्भाव आधुनिक काल से स्वीकार करना ही सांहित्यिक, तार्किक एवं विषय-संगत प्रतीत होता है।

आधुनिक उपन्यास विधा के साहित्यिक प्रवर्तन, उद्भवगत प्रक्रिया, प्रवृत्ति विकास और उपन्यास कला के तत्व आदि की व्याख्या-विवेचना के साथ-साथ इसको पारिभाषित करने की भी एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान रही है। इस परम्परा के अंतर्गत भारतीय एवं पाश्चात्य परिवेश से संबंधित भिन्न-भिन्न पृष्ठभूमियों के विचारक अथवा मीमांसक अपनी-अपनी वृद्धि

तथा समझ के अनुसार उपन्यास को व्याख्यायित और पारिभाषित करते रहे हैं। इन सर्जको विचारकों-विद्वानों, या मीमांसकों की परिभाषाओं पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि इनके अध्ययन-अवलोकन के उपरांत ही आधुनिक प्रकृति के उपन्यासों के प्रकार, स्वरूप, संरचनात्मक विन्यास उद्देश्य, अर्थ-वैशिष्ट्य भावपक्षीय तथा कलापक्षीय विन्यास प्रक्रिया, संघटक तत्व तथा भाव-संवेदना व शिल्पगत बनावट आदि को सम्यक परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विभिन्न विद्वानों के अभिमतानुसार उपन्यास की अधोलिखित परिभाषाएँ दी सकती है-

1. कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद के अनुसार- "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूँ। मानव चरित्रों पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व है।"3

2. कहानीकार राजेन्द्र यादव की दृष्टि में "उपन्यास मूलतः हिस्सेदारी की क्रिया है- सोशल एक्शन। एक विशेष समय में आपसी संबंधों और व्यक्तित्वों को समझना और उनके बनते-बिगड़ते स्वरूप को विकसित होते हुए दिखाना ही उपन्यास है।"4

3. बाबू गुलाबराय की मान्यता है कि- "उपन्यासकार विश्वामित्र की भाँति सृष्टि बनाता है किंतु ब्रह्म की सृष्टि के नियमों से भी बँधा रहता है। उपन्यास में सुख-दुःख, प्रेम-ईर्ष्या, द्वेष आशा-अभिलाषा, महत्वाकांक्षाओं, चरित्रों का उत्थान-पतन आदि जीवन के सभी दृश्यों का समावेस रहता है।"5

4. समालोचक डॉ॰ श्यामसुंदर दास के शब्दों में- "उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"6

5. अज्ञेय की मान्यता है कि- "उपन्यास व्यक्ति के अपनी परिस्थितियों के साथ संबंध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है।"7

6. पाश्चात्य विद्वान जार्ज मूर के अनुसार- "उपन्यास समकालीन जीवन का इतिहास है। हम जिस युग में जी रहे हैं, उपन्यास उस सामाजिक परिवेश में पूर्ण एवं सही पुन: निर्माण है।"8

7. डी० एच० लॉरेंस के अनुसार- "उपन्यास जीवन की एक उज्जवल पुस्तक है। पुस्तके जीवन नहीं है, वे सिर्फ हवा में थरथराहट पैदा करती है। लेकिन उपन्यास एक ऐसी थरथराहट है जो समूचे जीवित मनुष्य को कंपा सकती है। कविता, दर्शन, विज्ञान तथा किसी भी पुस्तक की थरथराहट से कही जबरदस्त उपन्यास की थरथराहट है।"9

8. अर्नाल्ड केटिल के शब्दों में- "उपन्यास गद्य में लिखी हुई यथार्थ जगत् की कल्पित गाथा है, जो सामान्य विस्तार से युक्त और अपने में पूर्ण होती है।"10

9. लॉर्ड डेविल सेसिल के अनुसार- "उपन्यास वह कलाकृति है जो हमे जीवन जगत् से परिचित कराती है और बहुत कुछ अर्थ के हमे उस जगह से सादृश्य कराही है जिसमें हम रहते है।"11

10. डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि- "उपन्यास आधुनिक युग की देन है। नए गद्य के प्रचार के साथ-साथ उपन्यास का प्रचार हुआ है। आधुनिक उपन्यास केवल कथामात्र नहीं है और पुरानी कथाओं और आख्यायिकाओं की भाँति कथा सूत्र का बहाना लेकर उपमाओं रूपकों और श्लेषों की छटा और सरस पदो में गुम्फित पदावली की छटा दिखाने की कौशल्य भी नहीं है।"12

उपन्यास की उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन-अनुशीलन के उपरांत प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर उपसंहारात्मक स्वरूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक गद्य साहित्य की एक ऐसी विधा है जिसमे भावप्रधान, घटना-प्रधान और व्यक्ति केन्द्रित घटनाओं को जिज्ञासा के आदि मध्य और अंत के माध्यम से काल्पनिक पात्रों एवं वास्तविक चरित्रों के विधान द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है तथा जो संरचना और स्वरूप में कहानी, नाटक एवं कविता

आदि विधाओं की समतुल्यता में सर्वाधिक विशालकाय होती है। इसे हम वास्तविक जीवन की एक ऐसी काल्पनिक कथा कह सकते हैं जिसमें यथार्थ एवं कल्पना का यथेष्ट समन्वय स्थापित किया गया होता है। कौतुहलता एवं मनोरंजकता के साथ-साथ मनुष्य जीवन के विविध पक्षों को एक साथ अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली यह एक साहित्यिक विधा है। मानव-चरित्र के आंतरिक पक्षो का रहस्योद्घाटन करना ही इस विधा का केन्द्रीय उद्देश्य होता है। अपनी छः औपन्यासिक तत्वों के आधार पर मनुष्य-जीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि परिस्थितियों, जीवन-स्थितियों और प्रवृत्तियों का स्वाभाविक चित्रण करना ही उपन्यास का बुनियादी धर्म होता है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण वर्तमान युग में साहित्यिक विधा दूसरी साहित्यक विधाओं की समतुल्यता में अधिक प्रभावोत्पादकता अर्जित करने में सफल रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अग्रलिखित कथन इसी अभिकथन की व्याख्या-विवेचना करता है- "वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही है उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते बल्कि आवश्यकतानुसार उनके ठोस-विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते है समाज के बीच खानपान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है गर्मी के दिनों में भी सूटबूट कसकर टेबलों पर जो प्रीतिभोज होने लगा है उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चित्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती है उनको गोचर रुप में सामने लाना और कभी-कभी विस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"15

आचार्य शुक्ल ने उपन्यास की जो प्रवृत्तियाँ या कार्य ऊपर बताये है उन्हें पूर्ण करने के लिए उपन्यास अपने छः घटको को प्रयोग में लाता है जिन्हे औपन्यासिक तत्व या उपन्यास कला के तत्व कहा जाता है। आधुनिक साहित्य मीमांसको द्वारा मानदण्ड स्वरूप स्थापित या निर्धारित ये औपन्यासिक तत्व है- कथानक, पात्र एवं चरित्र चित्रण, देशकाल और

वातावरण, संवाद या कथोपकथन, भाषा-शैली एवं उद्देश्य। उपन्यास कला के इन्ही तत्वों के माध्यम से उपन्यास अपने कार्य को कुशलतापूर्वक करने अर्थात् कल्पना और यथार्थ के मिश्रण से जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिंक आदि पक्षों को उद्घाटित करता है इसलिए इन घटकों का संक्षिप्त अवलोकन भी अपरिहार्य हो जाता है।

1. कथानक या कथावस्तु- कथानक या कथावस्तु उपन्यास का प्रथम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व होता है जिसमें किसी घटना परिस्थिति, भाव-व्यापार आदि को कथानकीय अमलीजामा पहनाया जाता है। दरअसल उपन्यास में जो कुछ भी कहा जाता है या फिर जो कुछ भी वर्णित-विवेचित होता है वह सब कथानक के अंतर्गत ही आता है। क्योंकि उपन्यास की प्रकृति एवं संरचना अत्यधिक विस्तीर्ण आयामों वाली होती है इसलिए केन्द्रीय कथावस्तु के अतिरिक्त गौण या उपकथानकों के विधान का भी पर्याप्त अवकास रहता है। उपन्यास में कौतूहल को आघंत बनाये रखने के लिए कथानक को आरम्भ, विकास एवं समाप्ति इन तीन सोपानों में विभाजित किया जा सकता है। आरम्भ एवं अंत में विशिष्ट प्रकार की कलात्मकता आवश्यक होती है जब कि इसके मध्य भाग में कथानक का विस्तार दर्शाया जाता है। कथावस्तु के अंतिम भाग में सारी जिज्ञासाओं का शमन करते हुए उपन्यासकार कथानक का अंत करता है। दरअसल उपन्यास की कथावस्तु उसका प्राण था शरीर होती है, जिसमे भिन्न-भिन्न विषयों, अनुभूतियों घटना-व्यापारों, भाव-संवेदनाओं आदि को जीवनपरक अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है।

2. पात्र और चरित्र-चित्रण- यह दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण औपन्यासिक तत्व होता है। उपन्यासकार अपने उपन्यास के कथानक में चित्रित घटनाओं प्रवृत्तियों परिवर्तनों मनोवृत्तियों, परिवेशगत परिस्थितियों आदि के समय अर्थात् काल एवं परिवेश अर्थात् देश को दृष्टिगत रखते हुए प्रथमतःकल्पित पात्रों का विधान करता है तदंनंतर अपने उद्देश्य के

अनुरूप चयनित पात्रों का चारित्रिक विकास दर्शाता है। आधुनिक मीमांसा पद्धति उसी उपन्यास एवं उपन्यासकार को सफल मानती है जो संबंधित उपन्यास में अपने देशकाल, वातावरण एवं उद्देश्य के नितांत अनुरूप पात्रों की योजना तथा उनका चारित्रिक विकास दर्शाने में सिद्धहस्त होते है। उदाहरणस्वरूप किसी उपन्यास का कथानक मुस्लिम आक्रांताओं के शासन के दौरान भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उद्भूत धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता की स्थिति के यथार्थांकन पर केन्द्रित है तो संदर्भित उपन्यास के पात्रों के नाम उनकी चित्तवृत्तियों कार्य-व्यापार, विचार, वेश-भूषा, खान-पान व रहन-सहन आदि मुगलकालीन या मध्यकालीन सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों आदि की संगति में ही होने चाहिए। ऐसे उपन्यासों में यदि कोट-पैंट पहने व टाई लगाये पात्र को अंग्रेजी भाषा में वार्तालाप करते दिखाया जायेगा तो यह देशकाल और वातावरण के सर्वथा विपरीत व असंगत और अप्राकृतिक होगा। अभिकथन का अभिप्राय यह है कि उपन्यास के पात्रों को चयन और चयनित पात्रों का चारित्रिक विकास कथानक, देशकाल एवं वातावरण तथा उद्देश्य की सर्वथा संगति में होना अपरिहार्य होता है।

3. देशकाल एवं वातावरण- देश अर्थात् स्थान, काल अर्थात् समय तथा वातावरण अर्थात् परिवेश को उपन्यास कला को तीसरा महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथानकीय परिधि निर्मित करने के लिए अपने देशकाल और वातावरण की अतीतकालीन या तद्युगीन परिस्थितियों प्रवृत्तियों, चित्तवृत्तियों और घटना-व्यापारों आदि को ही आधार बनाता है। रचनाओ एवं उनके कथानको की परिवेशगत इसी सम्बद्धता के आधार पर साहित्य को समाज का दर्पण कहने की सैद्धांतिकी प्रादुर्भूत हुई। कारण यह है कि दर्पण की तरह ही साहित्य भी अपने देशकाल और वातावरण में जो घटित हो रहे या घटित हो चुके व्यापारों को शब्दों के माध्यम से प्रतिविम्बित कर देता है। उपन्यास में भी इस कलागत तत्व का अत्यधिक महत्व होता है। जिसमें देशकाल या वातावरण अपरिहार्यतः प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, अधिक न्यूनमात्रा में वर्तमान रहता है। उपन्यास जैसी सर्वाधिक ख्यातिलब्ध

एवं व्यापक परिधीय विस्तार वाली साहियिक विधा में इस मानदण्डीय कलागत अवयव की वर्तमानता अनिवार्य भी होती है अन्यथा की स्थिति में उसमें उसके अन्य घटकों मसलन कथानक, पात्र एवं चरित्र चित्रण, संवाद या कथोपकथन, उद्देश्य एवं भाषा-शैली के मध्य आपसी एकरूपता एवं संतुलन सुस्थिर करना असंभव होगा। ऐसे में उपन्यास अपनी भाव-व्यंजना उद्देश्य और नैसर्गिकता आदि से विमुख हो जाएगा दरअसल उपन्यास और उपन्यासकार का मूल प्रतिपाद्य देशकाल और वातावरण ही होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए कथावस्तु पात्र एवं चरित्र, संवाद कथोपकथन, भाषा-शैली एवं उद्देश्य आदि घटको की योजना की जाती है। वस्तुत: देशकाल एवं वातावरण ही वह औपन्यासिक तत्व है जिसके द्वारा किसी स्थान विशेष के अंतर्गत समय और परिवेश विशेष की एतद्विषयक सामाजिक परिस्थितियों, विसंगतियों, जीवनानुभव, घटनाओं, मनोवृत्तियों, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थितियों, परम्पराओं, मूल्यों, नैतिकताओं तथा आदर्शों आदि को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। वातावरण पर्यावरण का ही समानार्थी शब्द है जिसमे स्थान समय विशेष की प्राकृतिक-भौगोलिक स्थिति, उसमे निवास करने वाले जीव-जंतु, वनस्पतियाँ, वन, पर्वत, नदी, उपत्यकार, मनुष्य, मनुष्यों की जीवन-स्थितियाँ, उनका पारस्पारिक सहयोग सामाजिक अंतः क्रियाश विविधताएँ सांस्कृतिक विलक्षणताएँ आदि सभी सचराचर अंतर्भुक्त होते हैं। देशकाल और वातावरण की इसी महत्ता और विलक्षणता को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० भगीरथ मिश्र ने कहा है कि- "जितनी ही वास्तविक पृष्ठभूमि में चरित्रों को प्रगट किया जायेगा उतनी गहरी विश्वसनीयता का भाव जगाया जा सकता है। इस पृष्ठभूमि के बिना हमारी कल्पना को ठहराने की कोई भूमि नहीं मिलती और हमारी भावना ही रमती और विश्वास करती है।"16

4. संवाद या कथोपकथन- संवाद या कथोपकथन उपन्यास कला का चौथा महत्वपूर्ण घटक है जिसकी निवर्तमानता में न तो कथानक का विस्तार ही किया जा सकता है और न ही पात्रों के चारित्रिक विकास को ही दर्शाया जा सकता है। उपन्यास के संवाद देशकाल

और वातावरण तथा पात्रों एवं उनके चरित्रों के अनुरूप ही होने चाहिए। उपन्यास में वैसे तो संवाद या कथोपकथन अधिकांशतः दो पात्रों के मध्य ही होता है लेकिन वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक एवं जीवनीपरक उपन्यास में यह आत्मगत प्रकृति का भी होता है। उपन्यास के पात्रों का मानसिक-वैचारिक अंतद्वंद्व प्रकट करने के लिए उपन्यासकार आत्मगत प्रकार के संवादो का सहारा लेता है जहाँ पात्र स्वयं से ही मन में प्रश्न करते या फिर अनुत्तरित प्रश्नों का उत्तर देते हैं। इसके अतिरिक्त एक पात्र के रूप में उपन्यास लेखन स्वयं भी उपन्यास में प्रक्षिप्त रहता है जो आत्मगत या स्वगत शैली में जहाँ आवश्यक होता है वहाँ विषय का स्पष्टीकरण देता है। उपन्यास के संवाद उसके अन्य कलात्मक तत्वों के सर्वथा अनुरूप होना अपरिहार्य होता है। प्रो० गुलाबराय के शब्दों में- "कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए बस उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना चाहिए।"17 उपन्यास के संवाद या कथोपकथन उसकी भाषा-शैली के सर्वाधिक समीपस्थ होते हैं। इसके अतिरिक्त देशकाल और वातावरण से भी इनकी घनिष्ठ सम्बद्धता होती है। यदि किसी उपन्यास में स्वाधीन भारत के ग्रामीण परिवेश की जीवन-स्थितियों, संगतियों-विसंगतियों तथा जन-समुदाय की चित्तवृत्तियों आदि का चित्रण करना हो तो उस उपन्यास के पात्रों के पारस्परिक संवाद या कथोपकथन में देशज शब्दों, स्थानीय बोली की ध्वनियों मुहावरों, लोकोक्तियों आदि के अतिरिक्त विकृत स्वरूप वाले शब्दों, गालियों के शब्दों, हास्य-व्यंग्य परक शब्दों, संवाद की शैली में अल्हड़ता अक्खड़पन, भोलापन तथा स्वाभाविकता का पर्याप्त पुट समावेशित होना चाहिए। उपन्यास में दो पात्रों के मध्य होने वाले संवादों में उनकी चेष्टाओं भाव भंगिमाओं आदि के अभिव्यक्ति की भी सामर्थ्य होनी चाहिए। डॉ० श्याम सुंदर दास के शब्दों में- "इस तत्व के द्वारा हम उपन्यास के पात्रों से विशेष परिचित होते हैं और दृश्य-श्रव्य की सजीवता और वास्तविकता का बहुत कुछ अनुभव करते हैं।"18

5. भाषा-शैली- भाषा-शैली उपन्यास कला का पाँचवा मानदण्डीय तत्व है जो उपन्यास में पात्रों की स्थिति, उनके देशकाल और वातावरण तथा उद्देश्य अनुरुप व्यवहृत होती है। उपन्यास में प्रयुक्त भाषा कथानक को विस्तार देने वाले पात्रों के अतिरिक्त कथानक और उपन्यासकार के परिवेश के अनुरूप होनी आवश्यक होती है अन्यथा की स्थिति में उपन्यास न तो स्वाभाविक प्रतीत होगा और न ही वह अपनी उद्देश्यगत सफलता ही अर्जित कर सकेगा। उपन्यास में भाषा-शैली एवं संवाद या कथोपकथन दोनों ऐसे प्रतिमानिक घटक होते है जो एक-दूसरे को नियंत्रित एवं विकसित करते है। जहाँ भाषा-शैली की सापेक्षता में संवादों या कथोपकथनों की योजना की जाती है वहीं संवाद या कथोपकथन को नियंत्रित-विकसित करने योग्य भाषा-शैली का व्यवहार उपन्यासकार की रचनाधर्मिता में निखार ले आता है। यदि उपन्यासकार ग्रामीण पृष्ठभूमि से संबंधित अशिक्षित पात्रों की योजना करके उनसे शुद्ध व्याकरणिक अग्रेंजी में संवाद करवायेगा तो वह उपन्यास अपनी सार्थकता और नैसर्गिकता को खोकर हास्यास्पद किस्म का बनकर रह जायेगा। ऐसे पात्रों की संवाद-योजना में देशज या स्थानीय बोली के शब्दों, उच्चारण शैलियों, अश्लील या विकृत शब्दों, स्थानीय कहावतों और लोकोक्तियों आदि के सार्वत्रिक प्रयोग से ही उपन्यास स्वाभाविक और यथार्थवादी बन सकता है। इसके विपरीत शहरीय परिवेश एवं शिक्षित प्रकृति के पात्रों की भाषा में तत्सम व तद्भव शब्दों के साथ-साथ विदेशी भाषाओं के शब्दों की प्रयोगगत प्रचुरता भी उपन्यास को यथार्थ के समीप ले जाएगी। भाषा के समान ही उपन्यास की शैली अर्थात् कहने का ढंग भी पात्रों की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं उनके देशकाल और वातावरण पर निर्भर करती है। यदि पात्र शिक्षित, सभ्य और समझदार होंगे तो उनकी अभिव्यक्ति शैली भी सरल, सहज प्रवाहमयी तथा प्रभावोत्पादक होगी। ऐसे पात्र अपने संवादों में विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक, वर्णनात्मक व व्याख्यापरक शैली को प्रयोग में लाएंगे। वस्तुतः अन्य सभी कलात्मक घटको की भाँति ही भाषा-शैली नामक औपन्यासिक तत्व भी उपन्यासकार के उद्देश्य उसकी योग्यता, विषयों का ज्ञान, परिस्थितियों को समझने की

सामर्थ्य आदि पर आधारित होता है। उसकी सृजनशीलता जितना अधिक अन्यतम किस्म की होगी, उसकी नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा युक्त कारयित्री प्रतिभा जितनी अधिक व्यापक होगी, वह भाषा-शैली के यथेष्ट, प्रासंगिक व सार्वकालिक प्रभावोत्पादकता वाले स्वरुप के प्रयोग में उतना ही अधिक सफल होगा। यदि स्वयं इन वृत्तियों की अभावग्रस्तता से झूम रहा है तो उसमें उचित-अनुचित का भेद करने की सामर्थ्य नहीं है वह उपन्यास को भाषा-शैली का अन्य घटको के साथ सामंजस्य बिठाने में शायद ही सफल हो सके।

6. उद्देश्य- उद्देश्य उपन्यास कला का अंतिम परंतु बुनियादी महत्व रखने वाला तत्व होता है। साहित्य-मीमांसको ने इसे उपन्यास कला के आरम्भिक पाँचो तत्वों का नियंत्रक और निर्धारक कहा है। दरअसल जैसे प्रत्येक साहित्य-सर्जन के पीछे उसके सर्जक का एक निश्चित उद्देश्य होता है वैसे ही प्रत्येक उपन्यास का अपना एक निर्धारित प्रयोजन या उद्देश्य अवश्य होता है और इसी उद्देश्य की प्राप्ति के दृष्टिगत उसकी कथावस्तु की रचना, पात्रों का चयन तथा उनका चारित्रिक विकास, देशकाल और वातावरण की योजना, संवादों का विधान एवं भाषा-शैली का चुनाव किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि उपन्यास कला का यह प्रतिमानिक घटक आरम्भ के सभी पाँचो घटको का नियंत्रक एवं निर्धारक होने के साथ-साथ उनका संचालक भी होता है इसलिए स्वाभाविक है कि उपन्यासकार के द्वारा इसकी उपेक्षा करने अथवा इसे कम महत्व देने से उपन्यास में अयथार्थता अपूर्णता के अतिरिक्त अन्य तत्वों के बीच व्यापक असंतुलन प्रादुर्भूत हो जायेगा। उद्देश्य का आधार रचनाकार की स्वानुभूतियाँ, व्यक्तिगत परिस्थितियाँ सामाजिक चित्तवृत्तियाँ तथा युगीन आवश्यकता और महत्वाकांक्षा होती है। साहित्य-सर्जक अधिकांशत: अपने देशकाल और वातावरण की अतीतकालीन या युगीन जीवन-स्थितियों में प्रकीर्णित संगतियों-विसंगतियों अच्छाइयो-बुराइयों, आवश्यकताओं-अनुभुतियों, विचारो व घटना व्यापारों के चित्रण को ही रचना का उद्देश्य बनाता है। उपन्यास जैसी व्यापक स्वरूप वाली साहित्यिक विधाओं के अंतर्गत आने वाली रचनाओ के एक से अधिक उद्देश्य होते हैं। मानव-जीवन के विविध क्षेत्री, मसलन-

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि में विद्यमान विसंगतियों को प्रकट करना भी उपन्यास का उद्देश्य हो सकता है तो स्वानुभूतियों, अंतर्मन की परिस्थितियों और अपने हृदय-व्यापारों का सम्पुट खोलना भी उपन्यास का केंद्रीय उद्देश्य हो सकता है। ध्यातव्य है कि केवल जीवन की विसंगतियों, बुराईयों या कांटों वाला क्षेत्र ही उपन्यास का उद्देश्य हो यह आवश्यक नहीं है। इसमें जीवन की संगतियाँ, अच्छाइयाँ एवं पुष्प सदृश्य सुगंधित जीवन का भाग भी सम्मिलित होता है। कभी-कभी अपने समाज, धर्म, राजनीति, दर्शन, संस्कृति व आर्थिक परिदृश्य में अंतर्भुक्त विलक्षणताओं, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों आदि को अभिव्यक्ति प्रदान करना भी उपन्यास का उद्देश्य होता है जिससे सामाजिक-सहृदयों में इसके प्रति आत्मबल व आत्मगौरव का भाव जगाकर उन्हें कर्मलीन, सकारात्मक उर्जा से संपन्न एवं आशावादी बनाये रखा जा सके। भाषा एवं बोली की तरह ही उपन्यास के उद्देश्य निर्धारण में भी उपन्यासकार की व्यक्तिगत अनुभूतियों, उसकी सामाजिक एवं अन्य जीवन क्षेत्र संबंधी परिस्थितियाँ, वृद्धि, विषयों की समझ-शक्ति, रचनाधर्मिता तथा मनःस्थिति आदि का आधारिक योगदान होता है।

उपन्यास-लेखन से पूर्व उपन्यासकार अपनी प्रज्ञा के अनुरूप लेखन का एक उद्देश्य निर्धारित कर लेता है। इसके उपरांत इसी उद्देश्य के सापेक्ष वह कथानक, पात्र एवं चरित्र-चित्रण, देशकाल और वातावरण, संवाद एवं भाषा-शैली की योजना करता है। उसके इस उद्देश्य में सामाजिक विसंगतियों को उजागर करना, धार्मिक आडम्बरों, अंधविश्वास, कर्मकांडों आदि का नग्न चित्रण करना, सांस्कृतिक विविधताओं एवं विशिष्टताओं को अभिव्यक्ति प्रदान करना राजनीतिक विद्रूपताओं से सामाजिक-सहृदयों को अवगत कराना, आर्थिक विषमताओं, जैसे-गरीबी, भुखमरी, वस्त्र एवं आवासहीनता आदि की ओर समाज व राष्ट्र के कर्णधारी का ध्यानाकर्षण करना, प्राकृतिक आपदाओं की विभीषिका का चित्रांकन करना, प्राकृतिक सौंदर्य या जैवविविधता का उल्लेख करना, देश की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक धरोहरों का गौरवगान करना आदि विषय शामिल हो सकते है। उदाहरण

स्वरूप औपनिवेशिक शासन के समय से लेकर बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक की समयावधि में सृजित अधिकांश उपन्यासों को केन्द्रीय उद्देश्य अंग्रेजी शासन की अमानवीयताओं, क्रूरताओं का चित्रण करना, तद्यूगीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण करना, क्रांतिवीरों के योगदानों को नमन करना, आजादी के बाद प्रादूर्भूत जीवन से मोहभंग की स्थिति राजनीतिक विसंगति, घुटन, संत्रास, अकेलापन, पारिवारिक विघटन आदि के वर्णन-विवेचन संदर्भित रहा है। आजादी के बाद लिखे गए अधिकांश उपन्यास नवीन समस्याओं, जीवन-संघर्षो, ग्रामीण जीवन की विसंगतियों, आवश्यकताओं महत्वाकांक्षाओ, राजनीतिक विरूपताओं, सांमती तथा साम्राज्यवादी जकड़न से मूर्क्षित, संसदीय शासन प्रणाली के माध्यम से देशवासियों के भीतर आशा का संचार करने तथा लोकतंत्र से मोहभंग की स्थिति दर्शाने को ही अपना केन्द्रीय उद्देश्य बनाकर चलते दिखाई देते है जो कि युगीन परिस्थितियों से प्रेरित- प्रभावित रहे है। इन्ही उद्देश्यों की पूर्ति के दृष्टिगत इन उपन्यासो के अन्य कलात्मक तत्वों का विकास उपन्यासकारों ने किया है। इस तरह से स्पष्ट है कि उद्देश्य उपन्यास का वह बुनियादी घटक है जिसपर अन्य घटको के सहयोग से उपन्यास की संरचना एवं प्रकृति तथा उपन्यासकार की स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति या उनकी युगीन परिस्थितियों-प्रवृत्तियों के प्रकटन का भव्य-भवन सुस्थित होता है।

उपन्यास की प्रकृति, परिभाषा, संघटक तत्व एवं संरचना आदि का विवेचन-विश्लेषण करने के उपरांत हिन्दी उपन्यासों की उद्भव एवं विकास यात्रा पर भी एक संक्षिप्त दृष्टिपात कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। हिन्दी उपन्यास की समग्र विकास यात्रा को भली भांति समझने के लिए उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचंद जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्वं तथा उनके निधीय योगदान का आधार बनाकर इसे अधोलिखित सोपानों में विभक्त किया जा सकता है।

1. प्रेमचंद पूर्व अथवा आरम्भिक उपन्यास- यह हिंदी उपन्यासों की यात्रा का आरम्भिक दौर था जिसकी समयावधि उन्नीसवीं सदी के आठवे-नौवे दशक से लेकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक मानी जा सकती है। इस युग के अधिकांश उपन्यास शुद्ध मनोरंजन परक, मनोरंजक एवं सुधारवादी तथा ऐतिहासिक प्रकृति के है। इनमें भाग्यवती (श्रद्धाराम फिल्लौरी), परीक्षागुरु (लाला श्रीनिवासदास), चंद्रकांता, चंद्रकांता संतति और भूतनाथ (देवकीनन्दन खत्री), अद्‌भूतलाश, गुप्तचर, बेकसूर की फांसी (गोपालराम गहमरी), तिलस्मी, शीश महल, आदर्श रमणी, हृदय हारिणी, ताराबाई, रजिया, (किशोरी लाल गोस्वामी), नूतन ब्रहमचारी, सौ अजान एक सुजान (बालकृष्ण भट्ट) ठेठ हिंदी का ठाठ, अधखिला फूल (अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध), कल्पलता, विधवा-विपत्ति (राधाकृष्ण गोस्वामी), निस्सहाय हिंदू (राधाकृष्ण दास), सम्मिलित किये जा सकते है।

2. प्रेमचंद युग का विकासकाल- हिन्दी उपन्यासों की मात्रात्मक और गुणात्मक समृद्धि में प्रेमचंद जी के द्वारा दिए गये विशिष्ट योगदान को ध्यान में रखते हुए हिन्दी कथा साहित्य के संदर्भ में सन् 1916 ई॰ से लेकर सन् 1936 ई॰ तक का कालखण्ड प्रेमचंद युग के नाम से जाना जाता है। काव्य की दृष्टि से यह समयावधि छायावाद युग के नाम से भी जानी जाती है पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी वर्मा आदि संख्यातीत सर्जको की अन्यतम रचनाधर्मिता के द्वारा साहित्य की लगभग सभी विधाओं की अभूतपूर्व श्री वृद्धि की जा रही थी। उस युग में हिन्दी कथा-साहित्य (उपन्यास और कहानी) की चहुर्मुखी उन्नति का सर्जनात्मक उत्तरदायित्व मुंशी प्रेमचंद जी ने संभाला जिनको जयशंकर प्रसाद, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, राधिका रमणप्रसाद सिंह तथा भगवती प्रसाद बाजपेयी आदि का समानांतरीय सहयोग प्राप्त हुआ। ध्यातव्य है कि उस युग में उपन्यासों की प्रकृति में व्यापक प्रसारता देखने को मिलती है जिसके कारण इस कालखण्ड में मनोरंजनपूर्ण या सुधारवादी उपन्यासों की तुलना में सामाजिक, ऐतिहासिक प्रकृति के उपन्यासों का बोलबाला दिखाई देता है। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी पद्धति में प्रेमचंद जी जहॉ

सामाजिक उपन्यासों की प्रकर्ष पर पहुंचा देते है वहीं प्रसाद उपन्यासों की ऐतिहासिक कोटि का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गबन, कर्मभूमि और गोदान आदि प्रेमचंद जी ख्यातिलब्ध उपन्यास है तो कंकाल, तितली और इरावती आदि उपन्यासों की रचना जयशंकर प्रसाद जी ने की। इसके अतिरिक्ति भिखारियों, मॉन् (विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक) हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा, आत्मदाह, वैशाली की नगरवधू, सोमनाथ, सिंहगढ़ (चतुरसेन शास्त्री) आदि अनेक उपन्यास भी इसी कालखंड में लिखे गए।

3. प्रेमचंदोत्तर युग अथवा उत्कर्ष काल- हिन्दी उपन्यासों की विकास यात्रा में सन् 1936 ई॰ के बाद से लेकर विगत शताब्दी के आठवें दशक तक की समयावधि को प्रेमचंद्रोत्तर युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस कालखण्ड में सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, यथार्थवादी, आँचलिक और मनोवैज्ञानिक आदि सभी कोटियो के संख्यातीत उपन्यासों का सृजन हुआ। इस समय में जितने अधिक उपन्यास लिखे गये उनकी मात्रात्मकता को दृष्टिगत रखते हुए इस युग को हिन्दी उपन्यासों का उत्कर्ष काल कहा जा सकता है। जैनेन्द्र का परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, और जयवर्धन, इलाचंद जोशी का लज्जा, संयासी, परदे की रानी, मुक्तिपथ, प्रेत और छाया, जहाज का पंछी तथा जिप्सी, अज्ञेय का शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप और अपने-अपने अजनबी, डॉ. देवराज का पथ की खोज, बाहर-भीतर, रोड और पत्थर, अजय की डायरी, धर्मवीर भारती का गुनाहों का देवता, सूरज का सातवां घोड़ा, लक्ष्मीनारायण लाल का धरती की आँखे बयाँ का घोसला और काले फूल का पौधा आदि इसी कालावधि में लिखे गए इसी तरह इस युग के अन्य प्रकार के उपन्यासों पर दृष्टिपात करे तो निम्नलिखित उपन्यासों का सृजनात्मक अस्तित्व परिलक्षित होता है।

ऐतिहासिक उपन्यास- गढ़कुंठार, विराट् की पदमिनी, झाँसी की रानी (वृंदावन लाल वर्मा) वैशाली की नगरवधू, वयं रक्षामः, सोमनाथ (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), बाणभट्ट की आत्मकथा, अनामदास का पोथा, चारुचंद्र लेख, पुनर्नवा (हजारी प्रसाद द्विवेदी) व नीला चाँद (शिवप्रसाद सिंह) आदि।

सामाजिक-पथार्थवादी उपन्यास- चंद हसीनों का खतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुआ की बेटी, शराबी, सरकार तुम्हारी आंखो में, अलका, अप्सरा, प्रभावती, चिरूपमा, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा (निराला), पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, भूले बिसरे चित्र, सबहि नचावत राम गोसाई (भगवतीचरण वर्मा) आदि बहुत उपन्यास है।

प्रगतिवादी उपन्यास- दादा कामरेड, देशद्रोही, दिव्या, पार्टी कामरेड, झूठासच, मेरी तेरी उसकी बात (यशपाल), जय यौधेय, सेनापति, दिवोदास, विस्मृत यात्री (राहुल सांकृत्यायन), रतिनाथ की चाची, बलचनमा, बाबा बटेसर नाथ, दुखमोचन, वरूण के बेटे, जमनिया के बाबा, हीरक जयंती (नागार्जुन) शोले, मशाल, जंजीर और नया आदमी कालिंदी, सत्ती मैया का चौरा, भाग्य देवता (भैरवप्रसाद गुप्त), घरौंदे, सीधा-सादा रास्ता, कब तक पुकारू, हजुर, धरती मेरा घर, मूर्दो का टीला, अँधेरे में जुगनू, रत्ना की बात, लखिमा की आंखें (रांगेय राघव) आदि।

आँचलिक उपन्यास- मैला आँचल, दीर्घतपा, जुलूस, कितने चौराहे (फणीश्वरनाथ रेणु) आधा गांव, दिल एक सादा कागज, ओस की बूंद (राही मासूम रजा), पानी का प्राचीर, जल टूटता हुआ, सूखता हुआ तालाब (रामदरश मिश्र), सूरज किरण की छाँव, जंगल के फूल (राजेन्द्र अवस्थी) आदि।

4. समकालीन उपन्यास- वैसे तो साहित्यिक संदर्भों में विगत शताब्दी के आठवें दशक से लेकर वर्तमान तक की समयावधि को समकालीनता के नाम से जाना जाता है लेकिन मोटे तौर पर इस कालखण्ड को थोड़ा और पीछे छठे दशक तक खीचा जा सकता है। हिन्दी के

प्रमुख समकालीन उपन्यासों में निर्मल वर्मा कृत वे दिन, लाल टीन की छत, एक चिथड़ा सुख, रात का रिपोर्टर, राजेन्द्र यादव के प्रेत बोलते है, सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, शह और मात, अनदेखे अनजाने, श्रीलाल शुक्ल रचित राग दरबारी, पहला पड़ाव, मकान, कृष्ण बलदेव वैद्य के उसका बचपन, राजकमल चौधरी के नदी बहती थी, एक अनार: एक बीमार, मछली मरी हुई, देहगाथा, मोहन राकेश कृत अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल, महेन्द्र भल्ला कृत एक पति के नोट्स, ममता कालिया के बेघर, कृष्णा सोबती के सूरजमुखी अंधेरे में, जिंदगीनामा, दिलोदानिश, उषा प्रियंवदा के रुकोगी नहीं राधिका, पचपन खम्भे लाल दीवारे, रथयात्रा, गिरिधर गोपाल के कंदील और कुहासे, मन्नू भंडारी के एक इंच मुस्कान, आपका बंटी, महाभोज, शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखित अलग-अलग वैतरणी, गिरिराज किसोर कृत- लोग, टाई घरे, चिड़ियाघर, यात्राएँ, भगवान दास मोरवाल के काला पहाड़, दूधनाथ सिंह के आखिरी कलाम, कमलेश्वर के कितने पाकिस्तान, गिरिराज किशोर के पहला गिरमिटिया और संजीव के सूत्रधार आदि अनेक लेखकों के बहुत से उपन्यासों को प्रमुखता से सम्मिलित किया जा सकता है।

नैसर्गिक एवं अध्ययन-अनुशीलन द्वारा उपार्जित प्रतिभा के सम्मिलन से निर्मित उत्कृष्ट रचनाधर्मिता के पोषक-संरक्षक अब्दुल बिस्मिल्लाह सामाजिक प्रकृति के समकालीन उपन्यासकार है जिनके उपन्यासों में भारतीय समाज के वर्तमान सभी जीवन-क्षेत्रों की समग्र, सर्वोत्तम एवं यथार्थपरक अभिव्यक्ति मिलती दिखाई देती है। यद्यपि वे उत्तर-भारत एवं मुस्लिम समाज से अंतर्संबंधित रहे हैं लेकिन उसके उपन्यास अपने सर्वोत्तम साहित्यिक नैतिकताओं, आदर्शों व मूल्यों आदि के अतिरिक्त साहित्य और समाज के पारस्परिक संबंधों का अन्यतम निवर्हन करते हुए स्थान एवं समाज की परिधि का अतिक्रमण करने में सफल रहे हैं अर्थात् उनके उपन्यासों में चित्रित जीवनगत विविध प्रवृत्ति परिस्थितियों, चित्तवृत्तियों और घटना-व्यापार आदि केवल उत्तर भारत या मूस्लिम समाज का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती है अपितु समेकित रूप से भारत तथा भारतीय समाज की रिप्रजेंटेटिव बनती दिखाई

देती है। उनके उपन्यासों में जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि संगतियों-विसंगतियों का यथार्थवादी चित्रण हुआ है वे जितना उत्तर भारत से संदर्भित है उतना ही दक्षिण भारतीय समाज से भी सरोकार रखती है। उनकी वर्तमान जितनी मुस्लिम समाज में देखी जा सकती है उतनी ही हिन्दू या जैन समाजों में भी। जैसा कि विगत अध्यायों में वर्णित हो चुका है कि बिस्मिल्लाह जी प्रेमचंद जी की आदर्शोन्मुखी, यथार्थवादी, जैनेन्द्र-अज्ञेय की मनोविश्लेषणवादी एवं रेणु की आँचलिक परम्परा से पृथक एक नवीन मार्ग के प्रादुर्भावक थे जिसे सामाजिक यथार्थवाद की परम्परा कहा जा सकता है और जो बाबा नागार्जुन से प्रभाव साम्य रखती है। समकालीन हिन्दी साहित्य रूपी नक्षत्रालोक को अपने भोर के तारे रूपी उपन्यासों से देदीप्यमान करने वाले बिस्मिल्लाह जी विगत शताब्दी के आठवें दशक से लेकर वर्तमान सदी के दूसरे दशक तक देश की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों, घटनाओं, विसंगतियों आदि को औपन्यासिक अमलीजामा पहनाने में सफल रहे है। इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि विवेच्य कालावधि में भारतीय समाज के विविध पक्षों या जीवन-क्षेत्रों की जो स्थिति, परिस्थिति रही है उसी का यथार्थपरक चित्रण इनके उपन्यासों में देखने को मिलता है।

ध्यातव्य है कि धर्म, राजनीति, अर्थ और संस्कृति आदि किसी भी समाज के अपरिहार्य घटक होते हैं। इस दृष्टि से धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पक्ष स्वत: ही सामाजिक पक्ष से सम्बद्ध हो जाते हैं इसलिए जीवन के सामाजिक पक्ष का अभिप्राय केवल समाज से ही नहीं बल्कि समाज सहित धर्म, अर्थ, राजनीति और संस्कृति आदि सभी से समझना चाहिए। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित संबंध इसी सैद्धातिकी के अनुसार कार्य करता है। जैसे यदि हम कहते हैं कि साहित्य एवं समाज परस्पर अंतर्संबंधित होते है या साहित्य समाज का दर्पण होता है तो इसके अर्थ के अनुसार साहित्य में केवल जीवन के सामाजिक पक्ष का ही वर्णन-विवेचन होना चाहिए, जबकि वास्तव में ऐसा न होकर साहित्य जीवन के अन्य पक्षों को भी समान अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह उसी तरह से कार्य

करता है जैसे किसी दर्पण के सामने खड़ा होने पर वह किसी एक अंग-उपांग का प्रतिबिम्ब दिखाकर समग्र शरीर को प्रतिबिम्बित करता है। इससे यही सिद्धांत निर्मित होता है कि साहित्य की उपादेयता अपने देशकाल और वातावरण के सर्वथा अनुरूप उसकी आवश्यकता निरर्थकता पर निर्भर होती है। किसी विशेष समय स्थान व परिवेश से संबद्ध कोई साहित्यकार समाज व साहित्य के अपने नैतिक उत्तर दायित्वों का निवर्हन करने के उद्देश्य में अपनी सर्जनाओं में अपने ही समय के समाज के गुणों-अवगुणों, आवश्यकताओं अनुभूतियों, परिस्थितियों, चित्तवृत्तियों एवं घटना व्यापारों को ही व्यंग्य, प्रशंसा और वर्णन आदि रूपों से कथानकीय स्वरूप प्रदान करता है। वह अपने समाज को जिस रूप में ढूंढ़ता है या फिर इसके इतिहास के बारे में जो कुछ पढ़ता या सुनता है उसी को यथार्थ एवं कल्पना के मिश्रण से उसकी ओर समाज, राष्ट्र या सामाजिक सहृदयों का ध्यानाकर्षण करने, उसकी वर्तमान सार्थकता निरर्थकता के अनुरूप उसका संरक्षण या उन्मूलन करने तथा उनमे अपेक्षित परिर्वत के दृष्टिगत करणीय-अकरणीय कार्यो के निर्देश देने आदि उद्देश्यो से अपनी रचनाओं में कथानकीय विस्तार प्रदान करता है। जैसा कि उल्लिखित हो चुका है कि जीवन का सामाजिक पक्ष अन्य पक्षों को भी अपने में समाहित किये रहता है इसलिए राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन क्षेत्र की संगतियों-विसंगतियो का साहित्य में समावेशन इसी प्रकृति, प्रक्रिया एवं उद्देश्य से स्वतःही हो जाता है।

अतिरेकी आधुनिकता बोध एवं द्वद्वात्मक भौतिकता से संपोषित समकालीन समाज की सर्वाधिक बिडम्बना यह रही है कि उसमें समाज, धर्म, राजनीति अर्थ एवं संस्कृति यदि सभी जीवन-क्षेत्रों में सुधार या विकास की समतुल्यता में विद्रूपताएँ, महत्त्वाकांक्षाओं, अमानवीयताओं और अत्याचारों आदि का ही बोलबाला दिखाई देता है। ये अप्रासंगिक, अवांछनीय तथा सामाजिक विकास के अवरोधक घटक दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे है। समाज में जातिगत भेदभाव मसलन अस्पृश्यता वर्ग-भेद आदि तो पहले से ही विद्यमान रहे है लेकिन धर्म-कर्मकाण्डी, आडम्बरों एवं अंधविश्वासों से राजनीति महत्वाकांक्षाओं, स्वार्थ

लिप्साओं एवं परिवारवाद आदि से, अर्थ-भूमण्डलीकरण, बाजारवाद पूँजीवाद औधोगीकरण व नगरीकरण में तथा संस्कृति-भौतिकतावाद पश्चिमी अंधानुकरण आदि घटकों की व्याप्ति से अत्यंत संकुचित और दूषित हो चली है, परिणामस्वरूप एक नितांत नवीन एवं अपेक्षाकृत अधिक विघटनकारी या विनाशक सामाजिक विकृति का प्रादुर्भाव हुआ। अब्दुल बिस्मिल्लाह इन नवीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों, परिवर्तनों के केवल प्रत्यक्षदर्शी ही नहीं अपितु भोक्ता भी थे इसलिए उनकी चेतना या रचनाधर्मिता ऐसी प्रवृत्तियों से असंपृक्त कैसे रह सकती थी? दरअसल उन्होने इन्ही प्रवृत्तियों के बीच रहकर अपनी सृजनशीलता को निरन्तरता प्रदान की है इसलिए उनका साहित्य (विशेषत: उपन्यास) भी अपने देशकाल और वातावरण की इन्ही विद्रूपताओ, चित्तवृत्तियों, परिवर्तनों आदि का यथार्थपरक अभिव्यक्ति बन सका है। सामाजिक विसंगतियों को उपन्यासों के संकेन्द्रण में रखकर अपनी आधुनिक एवं तार्किक विचारशीलता व युगबोध के द्वारा उन्होंने अपने परिवेश को रचनात्मक जीवंतता प्रदान की है। बिस्मिल्लाह जी के सभी उपन्यास सामाजिक सरोकार के सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों संदर्भों की समान अभिव्यक्ति होने के कारण चिरकालीन प्रासंगिकता वाली प्रकृति के बन गए हैं जिनमें भारतीय समाज को सर्वाधिक यथेष्ट प्रतिबिम्ब निर्मित होता दिखाई देता है।

यदि समाज और जीवन के सभी संदर्भों की खोजबीन करे तो बिल्मिल्लाह जी के उपन्यासों में जाति-प्रथा की विकृतियाँ, धार्मिक आडम्बर, कर्मकांड, अंधविश्वास, पारिवारिक विघटन, अकेलापन, संत्रास, गरीबी, भुखमरी, अस्पृश्यता, आधुनिकता बोध, सांस्कृतिक अवमूल्यन, पूँजीवादी व बाजारवादी विसंगतियाँ, जमीदारी और सामंतवादी प्रथा की विकृतियाँ एवं उनसे संघर्ष, अपनी भाषा एवं संस्कृति के प्रति लोगों की बढ़ती उपेक्षा की भावना, रहन-सहन, खान-पान व वेशभूषा पर पश्चिमी संस्कृति का दुष्प्रभावजन्य परिणाम स्त्री-शोषण व महिला सशक्तीकरण की प्रतिद्वंद्विता, सरकारी योजनाओ की क्रियान्वयनगत असफलता, लालफीताशाही, घुसखोरी, राजनीतिक नारेबाजी, वोट बैंक तथा दलगत

राजनीति की विद्रूपताएँ, संगठन-दलो की महत्वाकांक्षाएँ, सामाजिक समरसता की भावना का विकास, साम्प्रदायिक समस्याओं, सांस्कृति परिवर्तनों, नैतिक व चारित्रिक पतन, गरीबो शोषितों, वंचितों का सामाजिक व राजनीतिक शोषण, प्रशासनिक अक्षमता एवं नौकरशाही व्यवस्था की तानाशाही मध्यम और निम्नवर्ग में समाज एवं शासन के पार बढ़ती विद्रोह की भावना, सहिष्णुता, असहिष्णुता, ईमानदारी-बेईमानी, सामाजिक विविधता, अनेकता में एकता की भावना, राजनीतिक तुष्टीकरण, स्त्रियों का शोषण, उनके प्रति घृणित मानसिकता, मुस्लिम समाज की विसंगति, मेंहर एवं तलाक की समस्या, रोजा, नमाज आदि धार्मिक पर्वो की जीवनगत महत्ता बुनकर समाज की यथार्थता, युवकों का आधुनिकता के प्रति अति आग्रही होना, पुरातनता का स्वीकार-अस्वीकार, औद्योगीकरण का निरन्तर प्रसार, शिक्षा का व्यवसायीकरण द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के प्रभाव से उच्च वर्गीय जीवन में प्रादूर्भूत विलासिता, सामाजिक-पारिवारिक संबंधों में बढ़ती दरार, शिक्षा और विज्ञान के प्रभाव से जीवन के सभी क्षेत्रों में व्याप्त विद्रूपताओ में आयी न्यूनता, ग्रामीण जीवन में बिजली पानी और सड़क जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की समस्या, पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था तथा इस व्यवस्था पर कुठाराघात करती संवैधानिक व्यवस्था, बेरोजगारी की समस्या, न्याय-प्रणाली की विफलता, अनीति एवं अर्धम की सर्वाधिक व्यापकता, समाज में बढ़ती असहयोग की भावना तथा लोगों में दया, करुणा, मानवता आदि स्थान पर ईर्ष्या-द्वेष आदि मनोविकारों में हो रही निरन्तर वृद्धि आदि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक घटक सर्वत्र प्रकीर्णित दिखाई देते हैं। इन्हें और अधिक सूक्ष्मता और व्यापकता से समझने के लिए बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में चित्रित समाज एवं मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष का स्वतंत्र अध्ययन-अनुशीलन अपरिहार्य हो जाता है।

3.1- आर्थिक चेतना की स्थिति

केवल वर्तमान में ही नहीं अपितु अनादिकाल से विश्व के प्रत्येक महाद्वीप प्रत्येक देश प्रत्येक समाज और प्रत्येक व्यक्ति की आदि से अंत तक की जीवन स्थितियों का का आधारिक नियंत्रक अर्थ ही रहा है। मनुष्य के लिए इस अर्थ की महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यह न केवल उसकी मूलभूत आवश्यकताओं मसलन-वस्त्र, आवास एवं भोजन आदि का आधार होता है बल्कि उसके अन्य जीवन-क्षेत्रों, जैसे-सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदि का भी संचालक-व्यवस्थापक होता है। भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में देखें तो इसके उपनिवेश बनने अर्थात् योरोपीय व्यापारियो के आगमन तक, जबकि यहाँ वस्तुविनिमय की प्रथा प्रचलन में थी। अर्थ का महत्व मुद्रा की प्रकृति में न होकर संसाधनों या कृषिगत उत्पादों मसालों, वस्त्र स्वर्ण व रेशम आदि के स्वरूप में या इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि मुद्राओं के चलन से पूर्व हमारे यहाँ अर्थ की प्रकृति संसाधनों की थी और इन संसाधनों की उपलब्धता असीमित थी। उसके अतिरिक्त वस्तु विनिमय की प्रणाली भी अस्तित्व में थी। इन सभी का सम्मिलित प्रभाव यह था कि उस समय तक हमारे लिए अर्थ का महत्व आज के जितना नहीं था। परंतु द्वंद्वात्मक भौतिकता के इस वर्तमान युग में भूमण्डलीकरण, बाजारवाद, औद्योगीकरण नगरीकरण एवं पूँजीवाद जैसी वैश्विक विचारधाराओं ने जीवन के संदर्भ में अर्थ के सम्पूर्ण कॉन्सेप्ट को ही परिवर्तित कर दिया है और इस बदले कॉन्सेप्ट के अनुसार अर्थ ही जीवन का अर्थ उद्देश्य, आधार सब कुछ बन चुका है। वस्तु-विनिमय की प्रथा गांवों में भी नहीं रह गयी है, अर्थ के रूप में पैसा ही मनुष्य के पद, प्रतिष्ठा, सम्मान, न्याय, अधिकार, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का पर्याय बन चुका है। वर्तमान संदर्भों में मनुष्य के लिए अर्थ की जितनी अधिक उपादेयता बढ़ी है, उसका उतना ही अधिक अभाव भी देखने को मिलता है।

किसी कालखण्ड में सोने की चिड़ियॉ कहकर सम्बोधित किया जाने वाला भारत वर्तमान में अपने बहुसंख्यक नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरी करने में असफल रहा है जिसका मुख्य कारण अर्थाभाव ही है। इस अर्थाभाव के कारण गरीबी,

भुखमरी, बेरोजगारी, शोषण, वस्त्र हीनता तथा आवास हीनता जैसी विद्रूपताओ का तेजी से प्रसार हुआ है। क्योकि एक साहित्यकार के रूप में अब्दुल बिस्मिल्लाह जी की आर्थिक चेतना अपने देशकाल और वातावरण से ही संम्बद्ध रही है इसलिए उसका व्यापक अध्ययन-अनुशीलन करने के लिए हमें पहले उनके समय और समाज की आर्थिक परिस्थितियों, चित्तवृत्तियों का सम्यक एवं यथार्थज्ञान यद्यपि अब्दुल बिस्मिल्लाह का साहित्यिक देशाटन समकालीन परिवेश में प्रारम्भ होकर गतिमान रहा है इस लिए उनके देशकाल और वातावरण संबंधी उनकी साहित्यिक चेतना भी समकालीन आर्थिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों से अंतर्संबंधित होनी चाहिए। ध्यातव्य है कि वर्तमान भारत की आर्थिक स्थिति में समयानुरूप या अपेक्षित सुधार अभी भी नहीं हो सका है जिसके कारण देश में आर्थिक विसंगतियों और विद्रूपताओं की बाढ़ सी आ गयी है। भारत के संदर्भ में औपनिवेशिक युग प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों के स्वतंत्र दोहन का समय था। भारतीय मसालों की ख्यातिलब्धता ने योरोपीय व्यापारियों को अपनी ओर आकर्षित किया। व्यापार के लिए आगत योरोपियनों ने पहले व्यापारिक उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की फिर भारत की राजनीतिक अस्थिरता का लाभ उठाते हुए पहले प्रशासनिक हस्तक्षेप किया तदोपरांत भारतीय व्यापार स्वत्वाधिकार स्थापित कर लिया। कंपनी शासन की स्थापना के बाद भारत के आर्थिक संसाधनों की खुली लूट-घसोट आरम्भ हुई और अब अंग्रेजो का व्यापार मसालों तक ही संकुचित न रहकर सूती वस्त्र एवं रेशम आदि क्रम-विक्रय तक प्रकीर्णित हो गया। यहाँ के आर्थिक संसाधनों को व्यापार का नाम देकर ब्रिटिश अपने देश भेजने लगे, परिणाम स्वरूप भारत आर्थिक रूप से निरन्तर कमजोर होता गया।

कंपनी शासन की समाप्ति और औपनिवेशिक शासन की स्थापना के बाद स्थिति बद से बदतर होने लगी। कारण यह था कि व्यापारी अब शासक बन चुके थे और अब एक शासक होने के नाते उनके कुत्सित कार्यों में हस्तक्षेप करने वाला कोई नहीं था। बिल्ली को दूध की रखवाली का जिम्मा मिलने का परिणाम यह हुआ कि भारत की लूट-घसोट करने

का अनापत्ति प्रमाण-पत्र उन्हें स्वतः ही मिल गया। इसके बाद कृषिगत उपजों से लेकर अमूल्य प्राकृतिक संसाधनों तक सभी कुछ अंग्रेजों द्वारा समुद्री जलमार्ग से बेहिसाब मात्रा में ब्रिटेन भेजा जाने लगा। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन के और भी अनेक उपनिवेश थे जिनकी आर्थिक स्थिति भारत जितनी सुदृढ़ व समृद्ध नहीं थी। इन उपनिवेशों के प्रशासन से प्रादुर्भूत आर्थिक दबाव को कम करने के लिए भी व्यापार और कर के नाम पर अंग्रेज भारत के कृषिगत तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया करते थे। बलात् श्रम के द्वारा मानव-संसाधनों का दोहन करने के साथ-साथ अंग्रेज व्यापारी कृषि उपजो की खरीद-फरोख्त भी उचित मूल्य पर नहीं किया करते थे।

सीमांत और छोटे किसान सामंतो-साहूकारों की ऋण व्यवस्था मे पिस रहे थे, साथ ही खाद्यान उपज का अधिकांश भाग उन्हें ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाए गये भिन्न-भिन्न प्रकार के करो के रूप में देना पड़ता था। बाढ, अकाल, सूखा, महामारी आदि प्राकृतिक आपदाएँ यथासमय आकर किसानो की स्थिति को और भी दुर्दांत बनाती रही, फलस्वरूप वह अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण न कर पाने की स्थिति में बंधुआ मजदूर बनने को विवश होता था। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति भी औपनिवेशिक भारत की आर्थिक स्थितियों की दुर्दांतता में समान उत्तरदायी थी। तकनीकी क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि करने वाली या फिर मशीनीकरण और यंत्रीकरण की संस्कृति को विकसित करने वाली इस क्रांति ने भाप इंजन और नवीन मशीनरियों के आविष्कार द्वारा योरप में भारी और मझोले किस्म के उद्योगों की बाढ़ ला दी। मशीन से बने सामान हाथ से निर्मित सामानों की समतुल्यता में मात्रा और गुण दोनों मे कोसों आगे थे। इन उद्योगों में दैनंदनीय उपयोग की वस्तुएँ अधिक निर्मित होने के कारण विश्वभर के हथकरघा उद्योग को बहुत बड़ा आघात लगा। मैनचेस्टर का सूती वस्त्र उद्योग इस संदर्भ में अग्रणी भूमिका में था जहाँ व्यापक मात्रा में सूती वस्त्र का उत्पादन होता था। मशीन से निर्मित ये वस्त्र साफ-सुथरे और कम लागत वाले होते थे। अधिक मात्रा में वस्त्रों का उत्पादन होने के कारण ब्रिटिश सरकार इनके विक्रय के लिए एक बड़े बाजार

की तलाश में थी जिसकी पूर्ति भारत जैसे बहुसंख्यक व समृद्ध उपनिवेश से ही संभव थी। अंग्रेजों के लिए भारत केवल विक्रय का ही बाजार नहीं या अपितु यह इंग्लैण्ड के उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल का आपूर्ति कर्ता भी था। इन सभी का सम्मिलित परिणाम यह रहा कि एक तो भारत के स्थानीय शिल्प एवं हथकरघा उद्योग नष्ट होने लगे दूसरे भारतीय कृषिव्यवस्था की अधोसंरचना कमजोर होती गयी। विक्रय के लिए बाजार मिल जाने के उपरांत अधिकाधिक वस्तुओं के उत्पादन संबंधी ब्रिटिश महत्वाकांक्षा को चार चाँद लग गये, जिसकी पूर्ति व्यापक मात्रा में कच्चा माल प्राप्त करके ही किया जा सकता था। इसके लिए औपनिवेशिक सरकार ने भारतीय किसानों, तिनकठिया प्रणाली अधिरोपित कर उनसे नील, कपास और चाय की जबरन खेती करवानी आरम्भ की। इन उत्पादों को वे बहुत ही कम दामों मे खरीद कर बेच देते थे। इस तरह यदि सारांशिक रूप में कहें तो कह सकते हैं कि औपनिवेशिक भारत की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी जिसमे ब्रिटिशों की स्वार्थपरायणी वृत्तियों के चलते भारत गरीबी, भूखमरी, बेरोजगारी, नग्नता आदि के मुहाने पर खड़ा हो गया था।

ब्रिटिश हुकूमत भारत को आर्थिक रूप से लूला-लंगड़ा बनाकर चली गयी थी जिसे स्वाधीन भारत में पुन: खड़ा करने और विकास की पटरी पर दौड़ाने का उत्तर दायित्व भारत की संसदीय या लोकतंत्रात्मक सरकार का था। अंग्रेजी शासन से मुक्ति के बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में बनी कांग्रेस की सरकार ने भारत की आर्थिक स्थिति को सुधारने और जन-आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु अपनी प्रतिबद्धता दिखाते हुए इस दिशा में अनेक कठोर कदम उठाया। पंचवर्षीय योजनाओ का आरम्भ करके योजनाबद्ध तरीके से देश की दशा और दिशा सुधारने का व्यापक प्रयास किया गया। इसी अनुक्रम में मनरेगा जैसी कुछेक योजनाएँ भी अस्तित्व में आयी। हरित क्रांति और अन्य क्रांतियों के माध्यम से भारत की खाद्यान व्यवस्था को सुधारने का भी प्रयास किया गया। यद्यपि कांग्रेस सरकार की आर्थिक नीतियों व्यापक देशहित में थी लेकिन उन्हें आंशिक सफलता ही मिली। कारण यह

था कि ब्रिटिश सरकार ने भारत को जिस स्तर तक लूटा था उस स्तर तक नई नवेली आजादी पाये भारत के पास संसाधन अवशेष नहीं थे दूसरे सरकार की अधिकांश नीतियॉं या लालफीताशाही व्यवस्था का शिकार हुई या फिर भ्रष्ट नौकरशाही और राजनीति की। इक्कीसवीं सदी के आरम्भिक दशक तक भूमण्डलीकरण और बाजारवाद जैसी वैश्विक अवधारणाओं का प्रभाव भारत तक पहुँच चुका था जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था भी अप्रभावित नहीं रह सकी। केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद कुछ लिए गये अभूतपूर्व निर्णयों या योजनाओ के प्रभावशाली क्रियान्वयन चलते वर्तमान में भारत की आर्थिक स्थिति में व्यापक सुधार देखा जा सकता है जिसमे योजनाओं की आनलाइन मानिटरिंग क्रेन्द्रीय भूमिका में रही है।

जैसा कि विभिन्न परिच्छेदों में वर्णित हो चुका है कि बिस्मिल्लाह जी की साहित्यिक यात्रा विगत शताब्दी के आठवें दशक से लेकर वर्तमान तक गतिमान रही है, अत: स्वाभाविक है कि उनकी औपन्यासिक सर्जनाओं में इसी समयावधि की आर्थिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का चित्रांकन हुआ हो। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि ऊपर औपनिवेशिक भारत एवं स्वाधीनता प्राप्ति के आरंभिक दशको तक के भारत की जिन आर्थिक स्थितियों का वर्णन-विवेचन किया गया है, वे सर्वथा अप्रासंगिक है। दरअसल इस संदर्भ में उनका महत्व इसलिए भी है क्योंकि एक तो वे वर्तमान आर्थिक स्थितियों की निर्मात्री एवं पूर्वपीठिका है दूसरे बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में यत्र-तत्र उनका भी चित्रण देखने को मिलता है। इसलिए किसी भी दृष्टि से उनके वर्णन-विवेचन को अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता है, और ऐसा कहना उपन्यास कला के प्रमुख तत्व देशकाल एवं वातावरण की समग्रता तथा विस्तीर्णता की अवज्ञा करने से अधिक कुछ नहीं होगा।

भूमण्डलीकरण, बाजारवाद और पूँजीवाद जैसी वैचारिकी के हिन्द महादेश तक प्रसरण के साथ ही आई पाश्चात्य शिक्षा, वैज्ञानिक अनुसंधान, तकनीकी प्रसार, जनसंचार

और सूचना क्रांति आदि ने विगत शताब्दी के नौवें दशक में भारत की शिक्षा, संस्कृति, समाज, सभ्यता राजनीति और अर्थ के क्षेत्र में नूतन विचारों, परिस्थितियों और सिद्धांतो का प्रादुर्भाव किया परिणामस्वरूप आर्थिक विकृतियों में और अधिक प्रसार देखने को मिला। औद्योगिक विकास ने स्थिति को और भी भयावह बना दिया जिसमे पूँजीपति एवं सर्वहारा वर्ग के बीच शोषण की प्रकृति अपने सर्वाधिक वीभत्स स्वरूप तक पहुँच गयी है। इस नव्य भौतिकतावादी संस्कृति ने उपभोक्तवादी व्यवस्था को जन्म देकर प्रत्येक व्यक्ति को सुख-सविधाओं के नाम पर अर्थोपार्जन की अंध दौड़ में सम्मिलित कर दिया। इस नवोद्भूत व्यवस्था में व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ही उसके समग्र जीवन के केन्द्र में है तथा सामाजिक-पारिवारिक संबंध पद प्रतिष्ठा, मान-सम्मान न्याय, सुख-समृद्धि, शिक्षा राजनीति, धर्म, दर्शन आदि सभी जीवनांग इसी केन्द्रक की परिधि का चक्कर लगाते दिखाई देते हैं। विगत कुछेक दशको में स्थिति और भी विकराल हुई है, जिसमें विकास के नाम पर बहुत कुछ विनष्ट किया जा चुका है।

मनुष्य की निरंतर बढ़ती स्वार्थी वृत्तियों और महत्वाकांक्षाओं ने इन आर्थिक विद्रूपताओं में चार-चांद लगा दिया है। वैसे तो ये विद्रूपताएँ समाज के सभी वर्गों को अपने आगोस में लेने में सफल रही है लेकिन इस संदर्भ मे उन्हें मुस्लिम समाज से आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। आज़ादी के बाद इस समाज में अपनी जीवन स्थिति सुधारने की महत्वाकांक्षा जगी थी लेकिन राजनीति ने इसे केवल वोट बैंक तक ही सीमित रखते हुए इसके समग्र विकास को सदैव उपेक्षित रखा। समय-समय पर अपने राजनीतिक स्वार्थ की सिद्धि के लिए साम्प्रदायिकता एवं असहिष्णुता आदि के माध्यम से इस समाज का राजनीतिक उपयोग करने वाली सरकारे विकास की प्रक्रिया में मुस्लिम समाज को साथ लेकर चलने मे असफल रही, या फिर यो कहें कि इस समाज की उन्नति को राजनीतिक मुद्दा बनाए रखने के लिए वे साजिशन ऐसा करती रही। यही कारण रहा कि मुस्लिम समाज की आर्थिक स्थिति में समय-सापेक्ष अपेक्षित बदलाव नहीं हो सका, परिणामस्वरूप इस समाज के प्रत्येक पक्ष में

विसंगतियों का अम्बार लगता चला गया। इन सभी विसंगतियो का आधार आर्थिक विद्रूपताएँ ही हैं जिनमें निर्धनता अकिंचनता, शोषण, भुखमरी राजनीतिक उपादेयता, सरकारी योजनाओं की विफलता, आम आदमी पर पूँजीवाद की प्रभविष्णुता स्वार्थलोलुपता, व्यक्तिगत आकांक्षा, वस्त्र एवं आवस विहीनता, बिजली, पानी, सड़क की समस्या, और विपणन संबंधी समस्या, हथकरघा तथा लघु एवं मझोले उद्योगों की उपेक्षा आदि सभी कुछ शामिल है। वैसे तो उपर्युक्त आर्थिक विसंगतियाँ केवल मुस्लिम समाज से ही नहीं अपितु समस्त भारत से अंतर्संबंधित हैं जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, सिख, जैन आदि सभी समाज सम्मिलित हैं लेकिन क्योंकि बिस्मिल्लाह जी मुस्लिम समाज से ही सरोकार रखते हैं इसलिए इस समाज में व्याप्त आर्थिक विद्रूपताओं की संरचना का ताना-बाना उन्हें बहुत अच्छे से समझ में आया है। अपनी इसी आर्थिक समझ को उन्होंने औपन्यासिक स्वरूप प्रदान किया है जिसमे उनका भोगा हुआ तथा अनुभूत किया हुआ दोनों प्रकार का यथार्थ शामिल है। हालांकि साहित्य और समाज के संबंधों की व्यापकता एवं पारस्परिक निर्भरता को दृष्टिगत रखते हुए उनके साहित्यिक कर्म को हिन्दू-मुस्लिम सरोकार में विभक्त करने की अपेक्षा उसे भारतीयता के संदर्भ में विवेचित-विश्लेषित करना अधिक साहित्यिक, प्रासंगिक एवं समीचीन होगा। इस दृष्टि से देखें तो अब्दुल बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में अंतर्भुक्त उनकी आर्थिक चेतना अधोलिखित स्वरूपों में परिलक्षित होती है-

निर्धनता की स्थिति एवं उससे संघर्ष करता आम आदमी बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में निर्धनता की दो स्थितियों का चित्रण देखने को मिलता है जिसमें पहली स्थिति में अर्थाभाव में जीवन में आने वाली कठिनाइयों मसलन- गरीबी, भूखमरी, भोजन, वस्त्र एवं आवास का अभाव, मूलभूत आवश्यकताओं का शमन, शोषण, दमन, उत्पीड़न आदि तथा दूसरी स्थिति में इन विद्रूपताओं से मुक्ति के लिए छटपटाते आम आदमी के संघर्ष शामिल हैं। आजादी प्राप्त किए हुए एक दीर्घ समयावधि के व्यतीत हो जाने के बाद भी हम विज्ञान, अनुसंधान, औद्योगीकरण की अंध संपोषक इक्कीसवीं सदी में पहुँच गये हैं-हमारी आर्थिक स्थिति या

विकास संतोषप्रद नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से लेकर वर्तमान तक सामूहिक विकास या राष्ट्रीय विकास की समतुल्यता में व्यक्तिगत विकास ही अधिक देखने को मिलता है जिसमें सर्वहारा वर्गशोषित और अकिंचन हो पूँजीपति वर्ग और भी समृद्ध हुआ है। असंतुलित विकास की इस व्यवस्था ने देश के गरीब तबके को और अधिक गरीब तो संपन्न वर्ग को और भी संपन्न बनाया है। गरीब और अमीर के मध्य की यह आर्थिक संपन्नता दिन दोगुनी हो रात चौगनी तरक्की कर रही है जिसके प्रत्यक्ष दर्शी और भोक्ता दोनों बिस्मिल्लाह जी रहे हैं। उनका स्वयं का आरम्भिक जीवन तो अभावग्रस्तता में व्यतीत हुआ ही है, उन्होंने अर्थाभाव की स्थिति में अपने परिवार, समाज और राष्ट्र में प्रादुर्भूत आर्थिक विद्रूपताओं को भी बहुत नज़दीक से देखा है। इसी तरह से जहाँ वे स्वयं बालपन से ही गरीबी, भुखमरी, अभावग्रस्तता आदि से मुक्ति पाने के लिए छटपटाते रहे हैं वहीं अपने समाज एवं देश के बहुसंख्यक लोगों में भी मुक्ति की यह छटपटाहट उन्हें साफ-साफ दिखाई दे रही है। इसलिए उनके उपन्यासों में भोगे हुए यथार्थ के साथ सामाजिक यथार्थ का अभीष्ट समन्वय देखा जा सकता है। बिस्मिल्लाह जी उपन्यासों के अध्ययन-अनुशीलन से यह स्वतःस्पष्ट हो जाता है कि उनके अधिकांश उपन्यासों के चरित्र नायक तथा अन्य कल्पित पात्र जीवन की घोर आर्थिक विषमताओं का सामना करते हुए उनसे मुक्ति के लिए संघर्षरत दिखाई देते हैं।

सुविख्यात उपन्यास 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में चित्रित- बनारस के अगणित साड़ी बुनकरों की जीवनगत आर्थिक विषमताओं का स्वाभाविक चित्रण बिस्मिल्लाह जी के द्वारा अनुभूत किया हुआ सर्वाधिक कटु लेकिन यथार्थ जीवनानुभव कहा जा सकता है। दरअसल यह उपन्यास बुनकर समाज के परम्परागत शोषण एवं दमन से उत्पन्न सर्वाधिक प्रामाणिक दस्तावेज कहा जा सकता है। उपन्यास के कथानकीय विस्तार के अनुसार वाराणसी में बुनकरी का कार्य छित्तन बाबा के द्वारा आरम्भ किया गया था जो कि इजारबन्द अर्थात पैजामे का नाड़ा बुनते थे। किसी समय उनका बुना हुआ मफलरनुमा इजारबंद लखनऊ के किसी नवाब ने देखा हो उन्होंने देने वाले को अपने पास बुलाया। इससे वह व्यक्ति भयभीत

हो गया कि नवाब साहब उसे दण्डित करेंगें और इसी भय से उसने छित्तन बाबा की पिटाई करके स्वयं न जाकर उन्हें ही नवाब के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दे दी। भयाक्रांत छित्तन बाबा जब नवाब के पास पहुँचे तब उनके कृत्य के लिए उन्हें पुरस्कृत करते हुए बनारस के पाँच और मोहल्लों को आबाद करने की घोषणा की गयी। इसके बाद छित्तन बाबा ने कुछ लोगों को मऊ जनपद से लाकर तो कुछ बनारस के लोगों को लेकर पाँच मुहल्ले बसाये और इन पाँचों मुहल्लों के सरदार वही बने। हालांकि बाद में ये मोहल्ले कई खण्डों और उपखण्डों में विभाजित हो गये तथा आज भी इनका विस्तार पठानी टोला से लेकर बजरडीहा तक देखा जा सकता है लेकिन छित्तन बाबा और उनके वंशजों का जीवन इन मोहल्लों में विपन्नता की स्थिति में ही व्यतीत होता रहा है। यहाँ दिन-रात पुरुषों का पाँव करघे में और स्त्रियों का हाथ चरखे में रहने पर भी इनकी जीवन स्थिति अत्यंत दयनीय है। इन्हें तथा इनके बच्चों की गरीबी, भुखमरी, बीमारी, वस्त्र हीनता एवं आवास आदि आर्थिक विद्रूपताओं से हर-रोज दो चार होना पड़ता है। उपन्यास का पात्र 'बशीर' ऐसे ही एक निर्धन और शोषित पीड़ित मजदूर परिवार का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देता है। उसका घर हाजी अमिरुल्लाह के घर से सटा हुआ है। घर का ऊपरी भाग खपरैल है तथा उसके आगे एक छोटी सी दलान है। इसी घर में वह अपनी बीबी और पाँच बच्चों के साथ रहता है। यह पूरा परिवार अपने पड़ोसी हाजी अभिरुल्लाह के यहाँ बुनकरी का कार्य करता है जहाँ बहुत परिश्रम करने पर भी पंद्रह-बीस रूपये अधिक ही मजदूरी मिल पाती है तथा सभी सदस्यों को मिलाकर भी उतनी ही मजदूरी एकत्रित हो पाती है जिसमे किसी तरह परिजन जिंदा रह लेते हैं। बशीर के ही शब्दों में- "बस यूँ समझ लीजिए कि सुबह नास्ता नहीं बनता, रात की बची हुई रोटियाँ चाय में डुबोकर खा लेते हैं। फिर तुरंत काम पर हाजिर। दोपहर में वही दाल रोटी, किसी-किसी दिन में भैंस का गोश्त और हफ्ते में किसी दिन चावल, बाकी बचे हुए पैसों में रोग बीमारी का इलाज भी।"19

भारत को स्वाधीनता प्राप्त किए हुए आधी से अधिक सदी का समय व्यतीत हो चुका है लेकिन मुस्लिम समाज की आर्थिक स्थिति दिनोंदिन बदतर होती जा रही है। आज जबकि हम विज्ञान और तकनीकि विकास के चरम तक पहुँच चुके है, समाज का एक बहुत बड़ा तबका अपनी भूख मिटाने में भी असमर्थ है। विसंगति यह है जिसका पेट पहले से ही भरा है उसे तो भोजन मिल रहा है लेकिन जो क्षुधातुर है, जो भूख से बिलबिला रहा है, उसके हिस्से का भोजन, अभिरुल्लाह जैसे पूँजीपति छीन ले रहे हैं। अभिरुल्लाह संसाधन संपन्न बड़ी कोठी वाले घर का मालिक हैं लेकिन वह बशीर जैसे गरीब की सीलनभरी छोटी सी कोठरी को भी जबरन हड़प लेता है। उसकी इसी शोषक मानमिकता का प्रतिरोध करने के उद्देश्य से यतीन, रऊफ चाचा के साथ मिलकर साड़ी बुनकरों कारीगरों को एकत्रित करके उनसे पैसा वसूलता है तथा बैंक के निरंतर सम्पर्क में रहता है। कारण यह है कि- "उसे हाजी अभिरुल्लाह जैसे पूँजीपतियों का गढ़ तोड़ना है। लोगो का गला काटकर बच्चू ने बड़ा धन जोड़ा है। देखते है अब कौन बिनता है उनके यहाँ की साड़ी? सब अपना-अपना बिनेंगे और अपना-अपना बेचेंगे। अभी तक हमारी मेहनत की रोटियाँ इन मुहल्लों ने खायी है। अब हम खुद खायेंगे।"20

बनारस के गरीब बुनकर हाड़-तोड़ परिश्रम करने के बाद भी अपने इलाज के लिए भी आवश्यक पैसे एकत्रित नहीं कर पाते हैं परिणामस्वरूप उनका और उनका परिवार बीमारियों से ही परलोकवासी हो जाता है। लतीफ का बेटा इसका सर्वाधिक यथार्थ दृष्टांत है जिसकी मृत्यु हैजे से हो जाती है। बशीर, मतीन, रऊफ चाचा आदि सभी बुनकर भी विपन्नता की ऐसी ही जहालत में जिंदगी बशर करते हैं, क्योंकि शोषकों द्वारा इनका शोषण इस सीमा तक किया गया है कि शरीर के अलावा उनके पास ज्यादा कुछ अवशेष नहीं रह गया है। बनारस के बुनकर समाज की निर्धनता की स्थिति का अंदाजा नजबुनिया की जीवन-स्थिति से लगाया जा सकता है, जो एक पुराना नकाब पहनकर मेले में जाती है लेकिन नये नकाब की बात तो दूर, एक लाल चोटी तक खरीदने के पैसे उसके पास नहीं है

और अंत में वह बिना कुछ खरीदे निराश होकर मेले से बाहर हो जाती है। दरअसल- "नुजबुनिया के पास सिर्फ दो रुपये है। इसी में गाजी मियाँ का भी सत्कार करना है और अब्बा के लिए बुखार की टिकिया भी खरीदनी है।"21

बुनकर समाज की एक सर्वाधिक जीवनगत विद्रूपता यह है कि करघे एवं चरखे पर ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करने वाले बुनकर दूसरो के लिए मूल्यवान रेशमी वस्त्रों एवं अन्य कीमती वस्त्रों का उत्पादन तो करते हैं लेकिन वे स्वयं इनके उपयोग की आर्थिक सामर्थ्य नहीं रखते हैं। बनारस की जगविख्यात साड़ी इन्हीं बुनकरों की अंगुलियों से बुनी जाती है लेकिन इनके घर की स्त्रियाँ इस साड़ी को पहनने की अभिलाषा मन में सजोएं ही संसार छोड़ देती हैं। उपन्यास का पात्र इकबाल का अंतर्गन इसी परिस्थिति में व्यथित हो उठता है क्योंकि वह बाल्यकाल से ही अपनी माँ की बनारसी साड़ी पहनने की लालसा देखता रहा है लेकिन उसके माँ की यह लालसा अर्थाभाव के कारण कभी पूरी नहीं होती और उसका समग्र जीवन सूती धोती तथा छोटी की सलवार कमीज में ही व्यतीत हो जाता है। बल्कि इतना हाथ बटोरे रहने पर भी इकबाल की माँ कर्ज में डूबी रहती है। इस तरह से स्पष्ट है कि 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी ने बनारस के बुनकर समाज में व्याप्त परम्परागत निर्धनता की समस्या को उसकी सभी विकृतियों के साथ में व्याप्त यथार्थ स्वरूप में चित्रित किया है। आर्थिक समस्याओं के कारण जीवन को कितना समुचित और अमानवीय बनाना पड़ता है इसका सर्वोत्तम दृष्टांत इस उपन्यास में देखने को मिलता है। हनीफवा की पत्नी महरून अपने बारह वर्षीय बेटे को बस में यात्रा करते समय नकाब में पैरों के पास केवल इसलिए छिपा लेती है, जिससे उसका टिकट न लेना पड़े तथा टिकट के बचे हुए पैसे से वह बर्तन आदि जरूरत के सामान खरीद सकेगी। उसका कहना है कि- "अगर छूटकी जितने लड़कों का टिकट भी लगने लगे तब तो फिर इस मुल्क में जीना ही मुश्किल हो जायेगा। अरे यही पैसा बचेगा तो चुनार से कोई बर्तन-वर्तन खरीद लेगी वहा।"22

जिस प्रकार से बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में अपने देशकाल और वातावरण में व्याप्त निर्धनता, निर्वस्त्रता, भूखमरी आदि का यथार्थपरक अंकन किया है ठीक उसी प्रकार से अपने जीवन के मध्य तक व्याप्त रही अर्थाभाव की स्थिति को भी आत्मकथात्मक शैली में इन उपन्यासों में चित्रित किया है। 'जहरबाद' शीर्षक उपन्यास बिस्मिल्लाह जी द्वारा आत्मकथात्मक शैली में प्रणीत प्रथम उपन्यास है जिसमे उन्होंने अपने घर-परिवार की आर्थिक विसंगतियों का मर्मांतक वर्णन किया है। विवेच्य उपन्यास में 'मैं' और 'मै' के माता-पिता अर्थात् बिस्मिल्लाह जी और उनके माता-पिता ही प्रमुख पात्र हैं जिनके इर्द-गिर्द ही उपन्यास का सम्पूर्ण कथानक घूमता रहता है। जैसा कि पूर्ववर्ती अध्याय में वर्णित हो चुका है कि उपन्यासकार का आरम्भिक जीवन आर्थिक अभावग्रस्तताओं तथा पारिवारिक विघटन के बीच व्यतीत हुआ था। इस पारिवारिक विघटन के मूल में भी आर्थिक अभाव ही केन्द्रीय घटक था जिसके कारण इसके माता-पिता हमेशा आपस में ही लड़ते रहते थे। कथानायक 'मैं' अपनी आरम्भिक आर्थिक स्थिति के संदर्भ में कहता है- "अम्माँ के जेवर रेहन रखकर अब्बा ने चपडे का व्यापार शुरू किया था। पर मस्टूमियाँ इस इलाके के बहुत बड़े व्यापारी थे अतःउनके आगे उनका व्यापार चलना कठिन था। फलतःसारा पैसा लेहना में फँस गया था और भूखों मरने की नौबत आ गयी थी तब अम्माँ ने टोपरा उठाया।"23

घर की आर्थिक दशा खराब होने के कारण ही 'मैं' की माता टोपरे में किराने का कुछ सामान रखकर उसे गाँव-गाँव, घर-घर बेचने जाया करती है। दिनभर सामान बेचने के बाद वापस आकर घर के कार्यों को करने के बाद पैसे कमाने की और भी तरकीबें सोचती रहती है। पैसे कमाने की तरकीबें 'मैं' के पिता भी सोचते हैं लेकिन वे जो भी कार्य या व्यवसाय करते हैं वह उनकी पत्नी को पसंद नही आता है। वह अपने पति को निकम्मा समझी है जिसके कारण ही घर में मार-पीट, लडाई-झगड़ा होता रहता है। निर्धनता के कारण होने वाले इस झगड़े के बीच पिसता है- 'मैं' क्योंकि माँ तो मारखाकर चुप हो जाती है लेकिन उसे पिता के कार्यों में हाथ बँटाना पड़ता है, जो कि अत्यंत श्रमसाध्य हुआ करता है। आर्थिक

स्थिति में सुधार लाने के उद्देश्य से कथानायक की माँ सिर पर टोपरा रखकर दिन भर गाँव-गाँव भटकती है जबकि उसके अब्बा कोई काम नहीं करते हैं या फिर करते भी हैं तो उनके कार्यों में निरंतरता और गम्भीरता नहीं होती है इसीलिए पति-पत्नी के बीच आए दिन झगड़ा होता रहता है। घर में निर्धनता की स्थिति यह है कि परिवार का कोई सदस्य यदि गम्भीर रूप से भी बीमार हो जाय तो उसका इलाज नहीं कराया जा सकता है। 'मैं' की माँ रातभर प्रसव पीड़ा से छटपटाती रही लेकिन पैसों के अभाव में उसे चिकित्सालय नहीं ले जाया जा सका और पिता-पुत्र बेबस एवं लाचार उसकी इस दयनीय अवस्था के केवल द्रष्टृ बने रहे। 'मैं' के शब्दों में- "अम्मा रातभर दर्द से छटपटाती रही और सुबह देखा कि वे किसी ऊँची जगह पर नंगी बैठी थी और सामने खून-पानी के लिसलिसेपन के बीच एक लाल-लाल बच्चा चीख रहा था।"24

अर्थाभाव की स्थिति में 'मैं' का परिवार केवल समुचित इलाज से ही वंचित नहीं रह जाता है बल्कि स्वयं 'मैं' की बाल आकांक्षाएँ भी इस अभावग्रस्तता की भेंट चढ़ जाती हैं। उसे महँगे खिलौने कपड़े मिलने की बात तो दूर पिता के कार्यों मे सहयोग करने के कारण सामान्य खेल-खेलने का भी अवसर नहीं मिलता था। खेलने की उम्र में वह पिता के साथ हड्डी बीनने, लकड़ी और तेंदूपत्ता लाने तथा मछली मकड़ने का कार्य किया करता था। इन सबके के बाद उसे अल्पायु में ही समझ आ गया था कि जीवन का सारा संघर्ष, सारी लडाईयाँ पैसों के लिए ही है तभी तो 'मैं' अपने ही बाप के सामने मजूर के रूप में खड़ा था यह मेरे अब्बा का दोष था या मेरा मैं समझ नहीं सका। आश्चर्य तो मुझे इस बात का हुआ कि वे मुझपर नाराज नहीं हुए। यथार्थ शायद बहुत ज्यादा कठोर हो गया था।"25 निर्धनता की स्थिति में कथानायक को न तो बालों में लगाने के लिए साबुन, तेल आदि ही मिल पाता है और न ही वह समय पर नाई से अपने बाल ही कटवा पाता है। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी होती है और उस दिन- "अब्बा एक अधटूटी सी जंग लगी कैंची लेकर मेरे बाल काटने बैठ गये। पैसों की तंगी के कारण मेरे बाल नहीं बन सके थे आँगन में एक ओर छाया में बोरे पर

उन्होंने मुझे बिठा लिया था और अत्यंत निर्मम तरीके से मेरे लटियाये बालो को कतर रहे थे।"27

निर्धनता मनुष्य को केवल उसकी मूलभूत आवश्यकता से ही नही वंचित करती अपितु उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को तमाशा बनाकर रख देती है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है- 'मै' के माता-पिता का जीवन, जो कि गरीबी और जहालत की स्थिति में हरदम लड़ते-झगड़ते रहते हैं। मैं कि माँ यदि उसके अब्बा से घर की परिस्थिति के संदर्भ में कुछ बात करती है तो वे केवल उसे मारते-पीटते ही नहीं बल्कि घर से भी बाहर निकाल देते हैं। ऐसे में अंतिम निर्णय के लिए वह शहबाज खाँ तथा शमशाद खाँ आदि पंचो को बुलाती है जिसका वर्णन करते हुए मैं लिखता है- "दोपहर होते-होते हमारी परदी में काफी लोग जमा हो गये थे। साथ ही बाहर भी औरतों मर्दों की अच्छी खासी भीड़ इकट्ठा हो गयी थी। और मैं देख रहा था कि किस प्रकार आर्थिक कठिनाइयों से संघर्ष करता हुआ कोई परिवार अंततः एक तमाशा बनकर रह जाता है।"27

'जहरबाद' नामक उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी ने वैसे तो अपने समय के समाज में व्याप्त निर्धनता की स्थिति का नग्न चित्रण किया है लेकिन इसमें उनका झुकाव अपने व्यक्तिगत आर्थिक वैषम्य या भोगे हुए यथार्थ की ओर ही अधिक रहा है। इसे भी समग्र मुस्लिम समाज की आर्थिक स्थिति कमोवेश एक जैसी ही रही है इसलिए इस उपन्यास में उल्लिखित आर्थिक विद्रूपताएँ स्वानभूतियों की अभिव्यक्ति होकर भी सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन बन जाती हैं। इस उपन्यास के अनेक पात्र निर्धनता की दुर्दांत सीमा के पास खड़े दिखाई देते हैं जिनके लिए सारी लड़ाई की जड़ पैसा ही है। कथानायक 'मैं' के पिता जमींदार के बेटे हैं और उन्होंने शौक वश ही हिनौता ग्राम में जंगल विभाग की नौकरी की परंतु अतिशीघ्र ही वे नौकरी और जमींदारी से दूर होकर निर्धनता की गिरफ्त में जा गिरे और दिन-प्रतिदिन उनकी आर्थिक दशा दुर्दांत होती गयी। गरीबी एवं विस्थापन के इस

सिलसिलेवार दौर में 'मै' और उसके माता-पिता का रिश्तेदारों के साथ सम्बन्ध भी खराब हो जाता है, गहने रेहन रखकर शरू किया गया चमड़े का व्यापार अधिक पूँजी के अभाव में ध्वस्त हो जाता है टोपरे की वस्तुएँ उधार देने के कारण खत्म हो जाती हैं तथा घर में अन्न का एक दाना भी नहीं रह जाता है। ऐसे में- "अम्मा थोड़े से भुट्टे कही से मांग लायी थी जिन्हें उबाल-उबालकर कुछ दिनों तक काम चलाया गया।"28

चमड़े के व्यवसाय में हानि हो जाने के बाद 'मैं' के पिता सड़क निर्माण कार्य में मजदूरी करने लगते हैं और इसमें 'मैं' को भी लगवा देते हैं लेकिन पिता और पुत्र दोनों की सम्मिलित आमदनी सप्ताह भर का राशन ही खरीदने में समर्थ होती है। 'मैं' को जो मजदूरी मिलती है उसमे वह चाहकर भी अपने लिए कुछ नहीं खरीदता है परंतु अपने परिवार की आर्थिक स्थिति देखते हुए वह खुश है कि वह अपने परिवार को थोड़ी-बहुत मदद कर रहा है। बच्चे, बूढ़े हों या फिर नौजवान, पर्व और त्यौहार, सभी के जीवन में हर्ष और उल्लास लेकर आते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि त्यौहारों के दिन सभी नये वस्त्र धारण करते हैं, अनेक प्रकार के व्यंजन बनाए जाते हैं तथा एक-दूसरे से मिलते हैं। भारतीय संस्कृति के इन्ही प्रवृत्तियों के कारण घर के बड़े, बूढ़े, बच्चे, नौजवान, स्त्री-पुरुष सभी त्यौहारों का बेसब्री से इंतजार करते रहते हैं। इनमें भी बच्चों में त्यौहारों को लेकर विशेष उत्साह होता है क्योंकि इस दिन एक तो उन्हें उनके पसंद का भोजन और पकवान आदि खाने को मिलता है, दूसरे दिन घर के बड़े-बुजुर्गों के लिए चाहे नये कपड़े आए या न आए लेकिन बच्चों के लिए अवश्य आता है जिन्हें पहनकर वे गाँव भर में दिखाते हुए अपनी मित्र मण्डली के साथ घूमा करते हैं। यही कारण है कि बच्चे त्यौहारों को लेकर अत्यधिक उत्साहित रहते हैं। लेकिन निर्धनता एक ऐसा आर्थिक प्रकोप है जो बच्चों ही नहीं बल्कि नौजवानों और बूढ़ो के भी त्यौहारी उत्साह को निगल जाती है। दरअसल अर्थाभाव की स्थिति में न तो अच्छे-अच्छे पकवान ही बनाए जा सकते हैं और न ही घर के सदस्यों के लिए वस्त्रादि आवश्यक वस्तुएँ ही खरीदी जा सकती हैं।

कथानायक 'मैं' ईद की प्रतीक्षा करता है लेकिन ईद आने पर उसे पता चलता है कि हर बार की तरह इस बार भी अनेक कोशिशों के बावजूद उसके लिए कपड़े नहीं बन पाए हैं। अब्बा बकरीद पर वादा किए थे कि ईद पर उसकी अम्मा के लिए साड़ी और उसके लिए नये कपडे लाएंगे लेकिन नहीं ला सके परिणाम स्वरूप ईद की नमाज पढ़ने के लिए 'मै' को अब्बा की लुंगी का सहारा लेना पड़ा और अब्बा ने घर की चादर लपेट कर अपना काम चलाया। 'मैं' के घर की ये परिस्थितियाँ उसके परिवार की निर्धनता को और भी अधिक विद्रूय बना देती है तथा जिसकी परिणति 'मैं' द्वारा हडडी बीनने जैसे घृणित कार्य में होती है। ईद बकरीद के अवसर पर नये कपडे न पहनने या मिठाईयां न खाने का मलाल उसे उतना नहीं था जितना कि अपनी माँ को चीथड़े लपेटे हुए सर पर टोपरा रखे हुए गाँव-गाँव घूमते देखने का था। अकिंचनता की इस विद्रूप प्रकृति से अपने परिवार को निजात दिलाने के लिए ही मैं हड्डी उठाने जैसा घृणित कार्य बड़े उत्साह तथा परिश्रम के साथ करता था। अपने परिवार की आर्थिक विद्रूपताओं एवं परिणामगत भयावहताओं का सारांशिक वर्णन करते हुए वह जो कुछ भी कहता है उससे निर्धनता अपनी समग्र विकृतियों के साथ प्रकट हो जाती है- "अम्मा का टोपरा लेकर गाँव-गाँव की फेरी लगाते घूमना अम्मा और अब्बा के बीच झगड़े और फिर अम्मा का बुरी तरह पीटा जाना, अम्मा के चरित्र पर अब्बा द्वारा शक किया जाना और जिस्म लोलुप के हाथ पड़ बर्बाद हो जाना और अंत में एक घाटी में पकरी के पेड़ के नीचे अम्माँ का निरचंद पड़ा मिलना। विषैले शरीर पर भिन भिनाती हुई मक्खियाँ और चीख... अत्यंत ही निरीह....गालों पर बहते आँसू .... आँसू नहीं जहर....अभिशप्त और उपेक्षित जिंदगी का।"29

'जहरबाद' उपन्यास की भाति ही 'समर शेष है' शीर्षक उपन्यास भी आत्मकथात्मक प्रकृति का है अर्थात् इसमें भी 'मैं' नामक पात्र के रूप उपस्थित रहकर उपन्यासकार ने अपने जीवन के भोगे हुए जीवन संघर्षो का वर्णन किया है। विवेच्य उपन्यास में अन्य जीवन-संदर्भों के साथ-साथ बिस्मिल्लाह जी की आर्थिक परिस्थितियों का भी यथार्थपरक अंकन

हुआ है। ध्यातव्य है कि बिस्मिल्लाह जी ने अपने जहरबाद शीर्षक उपन्यास में मातृविहीन होने से पूर्व तक की आर्थिक विद्रूपताओं का वर्णन किया है जबकि संदर्भित उपन्यास में पहले रचनाकार की माता की मृत्यु एवं तदोपरांत पिता जी के गोलोकवास के बाद प्रादूर्भुत उनकी नवीन आर्थिक विसंगतियों का अक्षरांकन देखने को मिलता है। माता की मृत्यु के बाद उपन्यास का नायक 'मैं' पिता के सानिध्य में सुंदर भविष्य की कल्पना करता है लेकिन उसकी यह कल्पना एक दिवास्वप्न सिद्ध होती है, क्योंकि गरीबी और जहालत की स्थिति में ही उसके अब्बा भी बहुत जल्द गोलोकवासी हो जाते हैं। अनाथ होने के बाद 'मैं' की गरीबी एवं निरामयता और भी विद्रूप हो जाती है और इन सबसे लड़ने के लिए वह अकेला रह जाता है। निर्धनता की स्थिति ने 'मैं' और उसके माता-पिता को रिश्तेदारों और सगे-संबंधियों से तो पहले ही दूर कर दिया था अब अतीम होने के बाद उसे तिनके का भी सहारा नहीं रह जाता है, जिसके आाश्रय से वह जीवन से संघर्ष कर सके। अतीम होने के बाद 'मैं' की निर्धनता, अकेलापन, संताप, शारीरिक शोषण एवं उत्पीड़न अपने उत्कर्ष पर पहुँच जाता है। पीड़ा की अपनी आहे को 'मैं' जिस वाक्य के सहारे अभिव्यक्त करता है, उसे उपन्यास का ध्येय वाक्य कहा जा सकता है- "या परवर दिगार किसी को यतीम न बना।"30 वर्तमान समय में अर्थ ही जीवन का आधार और पर्याय दोनों है क्योंकि इसी के आधार पर घर-परिवार, समाज व राष्ट्र में संबंध बनने लगे हैं। मातृविहीन होने के बाद 'मै' अपने ननिहाल से लौटकर प्रयागराज के पैतृक गांव में शरण लेता है लेकिन ननिहाल छोड़ने के साथ ही उसके सारे संबंधी एवं रिश्तेदार भी छूट जाते है और उसकी स्थिति यह होती है कि- "एक मुसलमान के मरने के बाद दो गज जमीन तो मिल जाती है लेकिन जीता-जागता इंसान 'मै' रिश्तेदारियों की दुनिया में निरंतर परिक्रमा करता हुआ न तो किसी निश्चित छत का आश्वासन पाता है और न कही सुरक्षाबोध।"31

परिजन और रिश्तेदार मिलकर षड्यंत्र के सहारे अनाथ 'मैं' का पैतृक आवास भी हड़प लेते हैं। अभी तक तो 'मैं' के सम्मुख वस्त्र और भोजन की ही समस्या थी लेकिन अब

उसके सम्मुख सर ढकने के लिए छतकी की ही समस्या पैदा हो जाती है फलस्वरूप उसे चचेरे भाई-भाभी का शरणागत होना पड़ता है। भाई-भाभी हाड-टोड़ मेहनत करवाने के बाद भी न तो पेट भर भोजन देते हैं और न ही वस्त्रादि अन्य मूलभूत चीजें ही, भाई की पत्नी समय-समय पर जो व्यंग्य करती रहती है, सो अलग- "मै पहले ही कहती थी कि ऐसे निरबंसियो को मत रखो यहाँ। लेकिन मेरी सुनी जाय तब ना! बड़े छुमाए हुए भाई के लिए कल जब तक हिस्से की बात करेंगे तो सारा छिहाना ही एक दिन में निकल जाएगा।"32 निर्धनता बहुत ही बेशर्मी भाववाचक स्थिति होती है जिसमें घर-परिवार, सगे-संबंधी, मित्र आदि सभी साथ छोड़ देते हैं। 'मैं' के रिश्तेदार भी इस नैसर्गिक सत्य के अनुरूप व्यवहार करते हुए अनाथ 'मै' से पर्याप्त दूरी बना लेते हैं। पेटभर भोजन न मिलने के कारण 'मै' की जो शारीरिक स्थिति हो गयी थी उसका व्यंग्यात्मक चित्रण करते हुए वह लिखता है- "मेरे कमर के पास ही पेट था, वह पूरी तरह पिचका हुआ था और दुनिया की सारी सभ्यताएँ उस गड्ढे में समा गयी थी।"33 भूख और नींद ऐसी नैसर्गिक वृत्तियाँ या भाव हैं जो अधिक समय तक नियंत्रित नहीं की जा सकती हैं। विवशता और लाचारी की स्थिति में 'मैं' अपनी क्षुधा तृप्ति हेतु पुरानी पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ बेचता है लेकिन इससे भी अधिक दिनों तक समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता था-इसे वह भलीभाँति समझ रहा था। ऐसे में उसे आभास हो जाता है कि गरीबी और भुखमरी की यह स्थिति और भी विकराल रूप में दीर्घ अवधि तक गतिमान रहने वाली है।

'समर शेष है' शीर्षक उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी के भोगे हुए यथार्थ के साथ-साथ ही उनका सामाजिक यथार्थ भी अपनी समग्रता के साथ अभिव्यक्त हुआ है अर्थात् इस उपन्यास में उन्होंने अपनी निर्धनता के साथ-साथ अपने परिवेश में व्याप्त गरीबी, भुखमरी आदि को भी विभिन्न पात्रों. और उनके चरित्रों की योजना द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है। कथानायक 'मैं' की तरह ही रहमतुल्ला भी आर्थिक विद्रूताओं का शिकार दिखाई देता है। उसकी स्थिति में तो 'मैं' की आर्थिक स्थिति से भी बदतर दिखाई देती है। "मै" जब

रहमतुल्ला के घर रहने लग जाता है हो उसकी बीबी उससे आटा मांगने आया करती है। एक तो गरीबी दूसरे बच्चों की अधिक संख्या- दोनो स्थितियाँ रहमतुल्ला और उसकी बीबी के सभी आदर्श, सभी नैतिकताएँ नष्ट कर देती हैं। वे अपने से भी गरीब और बेघर 'मैं' से आए दिन पैसा और आटा मांगा करते हैं, जिसे कभी वापस नहीं करते, या यों कहें कि उनसे वापस करने की सामर्थ्य ही न है। अर्थाभाव की स्थिति में ही रहमतुल्ला को अपना पुस्तैनी घर बेचकर बेघर होना पड़ता है। वह किराए के मकान में रहने लगता है फिर भी उसकी गरीबी दिन-प्रतिदिन बिकराल रूप धारण करती जाती है। बच्चों की संख्या अधिक होने के कारण न तो किसी को भरपेट भोजन नसीब होता है और न ही तन ढकने के लिए आवश्यक वस्त्र की व्यवस्था ही हो पाती है। बच्चे जहाँ नग्न-अर्धनग्न रहते हुए भूखे ही सोने को विवश हैं वहीं पति-पत्नी फटे-पुराने कपड़ों में ही जीवन-निर्वाह करते दिखाई देते हैं। दरअसल उपन्यास का प्रत्येक पात्र अपने-अपने तरीके से निर्धनता में जीता तथा गरीबी-भूखमरी, अभावग्रस्तता, वस्त्रहीनता आदि से लड़ता दिखाई देता है। आर्थिक तंगी के कारण इन्हें कुछ अनैतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। करियई एक ऐसी ही पात्र है जो थोड़े से आटे के बदले अपना शरीर देने से भी नहीं हिचकिचाती है। कथानायक के शब्दों में- "मैंने सुन रखा था कि उसके पति को लकवा मार गया है और बच्चे भूख से बिलबिलाते रहते हैं। उन्हें छोड़कर वह मजदूरी भी नहीं कर सकती। अत: अपनी एक सहेली के माध्यम से वह सुकरू के पास आया करती थी और जाते वक्त थोड़ा सा आटा उनके पल्लू में बँधा होता था।"34 धनाभाव की स्थिति में बेचने खरीदने का यह कार्य अनेक स्तरों पर विभिन्न रूपों में चलता दिखाई देता है। स्वयं कथानायक पढ़ाई के लिए अपनी माँ के भोपाली गजरे को बेच देता है, जो कि माँ की एकमात्र निशानी होता है- "बी०ए० के दाखिले में ही लगभग अस्सी रुपये लगेगे, सुनकर मैं दहल गया। लेकिन मैं हारना नहीं चाहता था कि मैं अपने सभी रिश्तेदारों के यहाँ जाऊँगा, अगर वे दस-दस रुपये भी देंगे तो अस्मी रुपये जुट जायेंगे। लेकिन मैंने गलत सोचा था। दस रूपये की बड़ी कीमत थी। रुपये के मुकाबले मेरी जिंदगी

बहुत सस्ती थी। अतः रुपया जीत गया मैं हार गया।"35 गरीबी मनुष्य के लिए कितनी भयावह स्थिति उत्पन्न कर सकती है, इसका सर्वोत्तम उदाहरण स्वयं कथानायक है जिसका रिश्तेदारों और अन्य सगे-संबंधियों द्वारा भरपूर शारीरिक एवं मानसिक शोषण किया जाता है। कुए से पानी भरना, जंगल से लकड़िया लाना तथा इन सबके बाद भी व्यंग्यात्मक उक्तियाँ सुनना ये सभी मैं स्वास्थ्य एवं स्वाभिमान की ही हत्या नहीं करते थे बल्कि शोषण तथा अपमान के ये कृत्य उसकी बाल आकांक्षाओं, नैसर्गिक मानवीय वृत्तियो और अनुभूतियों आदि का भी दमन कर रहे थे। इसलिए निर्धनता की स्थिति मनुष्य जीवन को कितनी मात्रा में किन स्वरूपों में और कैसे नियंत्रित प्रभावित कर सकती है यह कथानायक के चरित्र एवं जीवन स्थिति से बेहतर किसी के द्वारा भी उद्घाटित नहीं किया जा सकता है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह जी ने अपने अन्य उपन्यासों, मसलन-दंतकथा, मुखड़ा क्या देखे, अपवित्र आख्यान तथा कुठाँव आदि में भी विभिन्न पात्रों और चरित्रों के विधान आर्थिक विसंगति के रूप में यत्र-तत्र निर्धनता एवं तज्जन्य विद्रूपताओं का यथार्थपरक वर्णन किया है। इन उपन्यासों में भी वर्णित गरीबी तथा भुखमरी आदि विसंगतियाँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो रही हैं लेकिन इनमे प्रधानता सामाजिक यथार्थ की ही है। दरअसल अर्थाभाव की स्थिति में बिस्मिल्लाह जी का जो भोगा हुआ यथार्थ था, उसे उन्होने अपने आत्मकथात्मक प्रकृतिक उपन्यासों जहरबाद एवं समर शेष है में वर्णित कर दिया है। शेष अन्य उपन्यासों में उन्होंने जो गरीबी, भुखमरी वस्त्रहीनता, अभावग्रस्तता तथा आवासविहीनता आदि का उल्लेख किया है वह उनका सामाजिक यथार्थ है अर्थात् उन्होने अपने समाज और देशकाल व वातावरण में निर्धनता की जो स्थिति और प्रकृति देखी हैं ? उसे ही इन गैर आत्मकथात्मक उपन्यासों में अभिव्यक्ति प्रदान की है। फ्लैश बैक शैली में लिखे गये उपन्यास दंतकथा' में कथानायक मुर्गे को शोषक समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो, आद्यंत ग्रामीण एवं नगरीय मानवीय और अमानवीय, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों-विसंगतियों से संघर्ष करता रहता है। इसी तरह 'मुखड़ा क्या देखे'

शीर्षक उपन्यास में ग्रामीण जीवन में होने वाले परिवर्तनों की झलक देखने को मिलती है। ध्यातव्य है कि सरकार के प्रयासों तथा भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण, बाजारवाद पूँजीवाद, सूचना क्रांति एवं वैज्ञानिक एवं तकनीकि विकास आदि के प्रभाव से बिगत शताब्दी के अंतिम दशक से भारत की आर्थिक स्थितियों में अत्यधिक परिवर्तन आरम्भ हो गया था। यद्यपि अभी भी निर्धनता का प्रलयंकारी रूप अभी भी बहुत अधिक नहीं बदला था लेकिन बदलाव की आहट आने लगी थी। 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में बदलाव की आहट की ध्वनि की स्पष्ट रूप से सुना जा सकता है। ग्रामीण विविधता और विषमता पर केन्द्रित इस उपन्यास में जमींदारी प्रथा द्वारा ग्रामीणों के शारीरिक, आर्थिक शोषण के दमनकारी रूप का भी पर्दाफाश किया गया है।

विवेच्य उपन्यास अल्ली एवं उसके परिवार के माध्यम से समस्त दुल्लोपुर गाँव के साथ-साथ उसके आस-पास के गाँवों की भी आर्थिक स्थिति का चित्रण करता है। दुल्लोपुर गाँव का प्रत्येक गाँववासी निर्धनता की स्थिति में ही अपना जीवन व्यतीत करता दिखाई देता है। वैसे तो पेट भरने के लिए ग्रामीण कठोर श्रम करते हैं लेकिन प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण कृषि एवं अन्य काम-धंधों में पर्याप्त सफलता नहीं मिलती है। गाँव की आर्थिक विसंगतियों का चित्रण करते हुए उपन्यासकार लिखता है- "आषाढ बीता, सावन बीता मगर आसमान से धरती पर एक बूंद भी नहीं टपकी। किसानों केहर खेतों में उल्टे पड़े रहे। मक्का और धान कोदों के बीज धीरे-धीरे पेट की आग बुझाने के साधन बन गए। नाले में जहाँ तहाँ जमा पानी भी सूख गया जंगल की हरियाली गायब हो गयी। ढ़ोर-डांगर पटापटम से लगे। न खाने को चारा न पीने को पानी। माँगने पर कोई किसी को बरिहा-भर अन्न देने को भी तैयार नही होता।"36 समय-समय पर पड़ने वाले अकाल व दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण न केवल दुल्लोपुर के ग्रामवासी दरिद्रता में जीने को विवश है बल्कि अर्थाभाव की यह स्थिति उन्हें धर्म परिवर्तन करने के लिए भी मजबूर करती है जिसमे कोई ईसाई धर्म स्वीकार करता है तो कोई इस्लाम धर्म जो गरीबी धर्म परिवर्तन का प्रमुख कारण

रही है- इसमे कोई संदेह नहीं है लेकिन गरीबी के संदर्भ में उपन्यासकार धर्मपरिवर्तन की स्थिति का तटस्थ वर्णन करने में असफल रहा है या फिर हम यो कह सकते हैं कि इस प्रसंग में धार्मिक कट्टरता ने उपन्यासकार के विचारों में द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न करती दिखाई दिती है। यहाँ उपन्यासकार आर्थिक विपन्नता अर्थात् गरीबी को धर्म परिवर्तन का प्रमुख कारण बताता है लेकिन उसके अनुसार यह धर्मांतरण अन्य धर्मों से मुस्लिम धर्म में होता है, न कि मुस्लिम धर्म में अन्य धर्मो में। जब कि उपन्यास में सर्वत्र मुस्लिम समाज में ही सर्वाधिक निर्धनता दिखाई देती है। ऐसे में दुल्लोपुर के मुस्लिम ग्रामीणों का हिन्दू धर्म स्वीकार करते दिखाना उपन्यास को यथार्थ के अधिक समीप ले जा सकता था। हालांकि अपनी धार्मिक कट्टरता को लेखक ने हिन्दू धर्म में प्रचलित जाति-प्रथा एवं अस्पृश्यता जैसी सामाजिक विसंगतियों से आवरित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। मशीनीकरण औद्योगीकरण एवं बाजारवाज जैसी वैश्विक अवधारणाओं ने गांवो के छोटे-छोटे व्यवसायों और उद्योग धंधों का नगरों की बड़ी-बड़ी कंपनियों तथा कल-कारखानों से प्रतिस्पर्धा कराकर या तो इन्हें विनष्ट कर दिया या फिर कमजोर कर दिया दुल्लोपुर और उसके पड़ोसी गांव बलापुर का मुस्लिम समुदाय परम्परागत रूप से चूडियों का व्यवसाय करता है। औद्योगीक और बाजारीकरण के बाद इस व्यवसाय को बहुत बड़ा झटका लगा, क्योंकि ग्रामीणों द्वारा हाथ से बनाई जाने वाली चूडियो की तुलना में शहर के उद्योगों में मशीनों द्वारा निर्मित चूड़ियाँ सस्ती और सुंदर हुआ करती हैं इसलिए महिलाएँ उन्हें ही अधिक खरीदना पसंद करती हैं। अल्ली चुडिहार इस स्थिति का वर्णन अग्रलिखित प्रकार से करता है- "शहर मे नए-नए फैशन की चूड़ियाँ भरी हुई हैं। अब गांव-गंवई की स्त्रियाँ अपनी चूड़िहाइन का इंतजार नहीं करती वे सुबह-सवेरे सज-धजकर निकलती है और टेंपो पर बैठकर सीधे गऊघाट। तीन से छ: सिनेमा देखने के बाद खरीददारी करती हुई नए फैशन की चूड़ियाँ पहनकर रात को आठ-नौ बजते-बजते वापस अपने घर।"37

'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में चित्रित बलापुर गाँव भी औद्योगीकरण और बाजार से पर्याप्त प्रभावित दिखाई देता है। इस गाँव के लोग कृषि के अतिरिक्त अनेक तरह के परम्परागत व्यवसाय भी करते हैं लेकिन जमींदार पंडित रामवृक्ष पाण्डेय जैसे लोग ग्रामीणों का शोषण-उत्पीड़न करके अल्ली चूड़िहार की तरह उन्हें परदेश भागने के लिए विवश कर देते हैं। लेकिन शहर पहुँचने के बाद अल्ली चूड़िहार पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के द्वारा और भी अधिक शोषित-उत्पीड़ित होता है, फलस्वरूप उसे पल्लेदारी करके ही संतोष करना पड़ता है। बलापुर गाँव के अधिकांश ग्रामीण चुड़िहार जाति से ताल्लुक रखते हैं जिनका कार्य चूडियाँ बनाना तथा चूड़ी पहचाने का गवई-बखरी का धन्धा करना है लेकिन मनिहारों के आ जाने से इनका व्यवसाय टूट जाता है। कारण यह है कि मनिहार लोग शहरों में जगह-जगह चूड़ियो की दुकान लगाये रहते हैं और गाँव की महिलाएँ अब बाजारों का अधिक रूख करने लगी है, जहाँ उन्हें चूड़ियों के साथ सौंदर्य के अन्य प्रसाधन भी मिल जाया करते हैं। ग्रामीण परिवेश में हुए इस परिवर्तन को दृष्टिगत रखते हुए ही अल्ली चुड़िहार का लड़का बुद्धु चूड़ी बनाने-बेचने का पुश्तैनी काम छोड़कर डाक्टरी का कार्य सीखता है जिसमे उसकी पत्नी भूरी भी सहयोग करती है। बलापुर गाँव तक सड़क का निर्माण हो जाने के कारण इस गाँव की आर्थिक स्थिति में भी सुधार होने लगा है। यातायात के साधनो का विकास होने से जहाँ गाँव एवं शहर के मध्य की दूरी घटी है वहीं सड़क के किनारे दुकाने लगाने का रोजगार भी युवको को मिला है, वे पढ़ने-लिखने या नौकरी-पेशा के लिए अब अधिक संख्या में शहर जाने लगे हैं। कुल मिलाकर कहें तो बलापुर गाँव की आर्थिक स्थिति में बहुत बड़ा बदलाव परिलक्षित होता है, जिसके बाद यह गाँव विकास के मार्ग पर अग्रसर हो गया है। इसी तरह 'रावी लिखता है' उपन्यास में रावी और उसके परिवार के माध्यम से 'अपवित्र आख्यान' उपन्यास में जमील, और उसके परिवार के माध्यम से तथा 'कुठाँव' उपन्यास में, नईम, सितार एवं अली हुसैन आदि के माध्यम से अब्दुल बिस्मिल्लाह ने स्वतंत्रयोत्तर भारत के मुस्लिम समाज की परिवर्तित होती हुई आर्थिक

परिस्थितियों का चित्रण किया है। इन उपन्यासों में निर्धनता से पीड़ित तथा निर्धनता से मुक्त होता या फिर युक्त होने के लिए छटपटाता मुस्लिम समाज अपनी सम्पूर्ण विद्रूपताओं-वर्जनाओ के साथ चित्रांकित हुआ है, जो कि उपन्यासकार की अपने देशकाल एवं वातावरण के प्रति समझ और सजगता को भी दर्शाता है।

गरीबी, भुखमरी, निर्धनता, अभावग्रस्तता या अन्य आर्थिक विसंगतियों के संदर्भ में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों का अब तक किया गया विवेचन-विश्लेषण सारांशिक रूप से प्रादुर्भाषित करता है कि उनके उपन्यासों में वर्णित प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक विद्रूपताओं के सर्वाधिक वीभत्स घटक-निर्धनता वस्त्र हीनता, आवास विहीनता आदि से उत्पीडित एवं इनसे मुक्ति के लिए संघर्षरत दिखाई देता है। दिन-रात हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद भी मुस्लिम समाज का एक साधारण व्यक्ति अपने और अपने परिवार के लिए न तो दो वक्त की रोटी का इंतजाम कर पाता है और न ही अपना एवं अपने परिवार का तन ढकने योग्य वस्त्र ही खरीदने में समर्थ हो पाता है। बिस्मिल्लाह जी ने गरीबी, भुखमरी आदि के रूप में अपने उपन्यासों में अपने भोगे हुए यथार्थ के अतिरिक्त सामाजिक यथार्थ को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसी तरह इनके उपन्यासों में आधुनिक परिवेश में औद्योगीकरण, नगरीकरण, भूमण्डलीकरण, बाजारवाद, तकनीकी विकास सूचना एवं संपर्क क्रांति आदि के प्रभावस्वरूप मुस्लिम समाज में परिलक्षित होने वाले अर्थिक परिवर्तनों, मसलन-नवीन व्यवसायों का प्रारम्भ, युवको का रोजगार के लिए शहरों की ओर पलायन, सरकारी योजनाओ के माध्यम से भोजन और आवास की समस्या का कुछ हद तक निदान तथा निर्धनता की स्थिति में अत्यधिक सुधार आदि का भी वर्णन-विवेचन देखने को मिलता है।

पूँजीवाद का विकृत स्वरूप एवं स्त्री-पुरुष का शोषण-

अपनी सैद्धांतिक उत्पत्ति से लेकर वर्तमान तक की सुदीर्घ यात्रा में पूँजीवाद प्रत्येक समय में प्रत्येक सोपान पर सर्वहारा वर्ग का शोषक रहा है। क्या अफ्रीका एशिया क्या

योरप-अमरीका, क्या मध्यम वर्ग, क्या निम्न वर्ग, क्या स्त्री, क्या पुरुष-सभी कमोवेश समान रूप से पूँजीवाद द्वारा सताए गये है। कार्ल मार्क्स ने द्वद्वात्मक भौतिकतावाद पर आधारित अपने मार्क्सवादी सिद्धांत में पूँजीवाद के इसी शोषण-उत्पीड़न से समाज को मुक्ति दिलाते हुए साम्यवादी समाज की स्थापना की बात की है। क्योकि पूँजीवाद का सैद्धांतिक-व्यावहारिक प्रसार भारतीय उपमहाद्वीप में भी रहा है इस लिए स्वाभाविक है कि इसकी प्रतिरोधी विचारधारा मार्क्सवाद भी भारतीय समाज और साहित्य पर अपनी प्रभावोत्पादकता रखती हो। वर्ग-संघर्ष सिद्धांत पर आधारित मार्क्सवाद समाज में मध्यमवर्ग की स्थिति को सर्वाधिक विभिन्न किस्म का मानता है जो निम्नवर्ग से घृणा और उच्च वर्ग से प्रतिस्पर्धा करने के कारण बीच में ही रह जाता है। उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच पिसने, वाले मध्यम वर्ग का आर्थिक संतुलन शीघ्र ही बिगड़ जाने के कारण इस वर्ग में विद्रोह और अशांति की भावना प्रादुर्भूत होती है जो कि इस वर्ग को शोषण के प्रति विद्रोही बना देती है। बिस्मिल्लाह जी से पूर्व मार्क्सवादी सैद्धांतिकी को आधार बनाकर हिंदी मे अगणित उपन्यासों की रचना की जा चुकी है जिसमें मध्यमवर्गीय व्यक्ति की आर्थिक समास्याओं, अर्थगत असंतुलन, शोषण-उत्पीड़न के प्रति उसकी विद्रोही भावना, आर्थिक प्रतिस्पर्धा एवं इस स्पर्धा का दुष्परिणाम आदि का वर्णन-विवेचन प्रमुखता से शामिल रहा है। इसी परम्परा का निवर्हन करते हुए बिस्मिल्लाह जी अपने उपन्यासों में मार्क्सवाद के सैद्धांतिकी घटकों को भी यथेष्ट स्थान देते हुए मुस्लिम समाज के मध्यमवर्ग का शोषण, आर्थिक द्वंद्व, प्रतियोगिता की भावना तथा शोषको के प्रति उसका आक्रोश आदि को सम्यक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। इन उपन्यासो में मुस्लिम समाज का मध्यमवर्गीय युवक शोषकों के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद करते हुए अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नवान दिखाई देता है। वह सभा-सोसायटी की स्थापन करके निर्धनता से भी मुक्त होना चाहता है जैसा कि 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास का पात्र मतीन करता है। मतीन हाजी अभिरुल्लाह के यहाँ कतान का कार्य करता है, जो कि पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतिनिधि है।

अभिरुल्लाह मतीन का भरपूर शोषण करता है और कठोर श्रम के बाद भी मतीन को उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता है। उसी के शब्दों में- "यहाँ तो ये हाल है कि हाजी अभिरुल्लाह साहब दें तो खाओ वरना भूखे रहो। करघा अपना, जाँगर अपनी, सिर्फ कतान हाजी साहब का, लेकिन हाजी साहब की कोठियाँ तन गयी और मतीन उसी ईंट की कच्ची दीवारों वाले दरबे में गुजर कर रहा है। पेट को ही नही अँटटा क्या करें ? कितनी भी सफाई से बिनो, नब्बे रुपये से ज्यादा मजदूरी नहीं मिलने की। हफ्ते भर मे सिर्फ नब्बे रुपया। उसमें से भी कभी पाँच रूपया 'दाग' का तो कभी तीन रुपया मत्ती का और कभी रफू का तो कभी टीरी का कट जाता है।"36 इसी पूँजीवादी व्यवस्था और शोषण से लड़ने के लिए मतीन बशीर के पर सभी सदस्यों को बुलाकर मीटिंग करता है। हालाँकि सोसायटी का चेयरमैन वह स्वयं न बनकर रऊफ चाचा को बनाने के प्रस्ताव रखता है जो कि सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाता है लेकिन सोसायटी की स्थापना अर्थात् संस्था के सरकारी पंजीयन के लिए मतीन और रऊफ चाचा को सरकारी कार्यालयों के चक्कर में अपने जूते घिसने पड़ते हैं जहाँ पर हाजी अमरुल्ला साहब अनपढ़ जुलाहो से हस्ताक्षर करवाया हुआ। आवेदन पहले से ही दिए होते हैं। अपने इस आवेदन में हाजी साहब स्वयं को सोसायटी का चेयरमैन बनाये जाने का अभ्यावेदन दिए हुए थे। दरअसल हाजी अभिरुल्लाह सोसायटी की स्थापना एवं उसका चेयरमैन का पदा प्राप्त करके सरकार द्वारा स्वीकृत धनराशि हड़पना चाहते है इसलिए युवा अब्दुल मतीन अंसारी की सोच से वे चार कदम आगे ही चलते हैं। इससे यही प्रार्दुभाषित होता है कि पूँजीपति एवं उच्च वर्ग के लोग सर्वहारा वर्ग के लिए चलायी जाने वाली सरकारी योजनाओं और सहयोग की आपस में ही बंदरबांट कर लेते हैं और ये योजनाएँ या सहयोग शोषको के लिए वर्ग के शोषण का माध्यम बन जाती हैं। हाजी अभिरुल्लाह भी अपने उद्देश्य में सफल होता है क्योंकि जुलाहों का फर्जी हस्ताक्षर दिखाकर वह सोसायटी को पहले ही अपने अधिकार में करा चुका होता है। हालाँकि सोसायटी के संदर्भ में मतीन फिर भी अपनी पराजय नहीं मानता है और वह व्यवास्था का

भी कड़ा प्रतिरोध करने का निर्णय लेता है। इस बार उसका सामना गया प्रसाद से होता है लेकिन वह जब गया प्रसाद से भी हार जाता है तब वास्तव में व्यवस्था से उनकी हार हो जाती है। इसके बाद मतीन बनारस छोड़कर मऊ चला जाता है। मऊ में भी उसे इसी व्यवस्था से संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि यहाँ भी सरकार ने को-ऑपरेटिव द्वारा सूत देने की जो व्यवस्था की होती है उसका लाभ चेयरमैन सुलतान अहमद, हाजी अहमद मंजूरूल हसन अंसारी आदि पूँजीपति ले रहे होते है जिसके कारण साधारण गरीब बुनकरों को दोगुने दामों पर सूत खरीदना पड़ता है। ऐसे में मऊ के गरीब-बुनकर समाज की स्थिति बद से बदतर हो जाती है।

अधिकांशत: ऐसा देखा जाता है कि सामंत, पूँजीपति, उद्योगपति एवं साहकार आदि पर सरकारों की विशेष कृपा रही है। दरअसल सरकार भी इन्ही की कृपा दृष्टि से बनी होती है जो कि पार्टी चंदा के रूप में अरबपतियों द्वारा भारी मात्रा में पार्टी फडिंग या चंदे के नाम से उन्हें मिली हुई होती हैं। सरकारें बनाने वाले ये प्रभुत्वशाली लोग बाद में निजहित में सरकारों का उपयोग करते हैं। इस समग्र अनुक्रिया-प्रक्रिया में पूँजीपति या उद्योगपति आदि सरकारी तथा नौकरशाही व्यवस्था पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हुए हए सरकारों, सरकारी योजनाओं नियमों-विधानों आदि सभी पर प्रभुत्व स्थापित करते हुए इनकी ही आड़ में सर्वहारा का शोषण करते हैं। झीनी-झीनी बीनी चरिया उपन्यास में इस आर्थिक विद्रूपता का उल्लेख अग्रलिखित प्रकार से मिलता है- "पहले तो सोसायटी को कर्ज मिलता था। अब तो वह सिस्टम्स खत्म हो गया। सोसे लगाकर अब हर आदमी कर्ज ले सकता है, लेकिन गरीबो को भला कहा मिल पाता है इस तरह का कर्ज। बशीर जैसे लोगों के बैंक तो यही गिरस लोग है। इनमें भी जो नये-नये बने गिरस हैं कर्ज देने में उनकी ज्यादा रुचि रही है ताकि कर्ज के करघे पर बुनी हुई साड़ियाँ हाथों बेची जाएँ। इसीलिए बशीरमियाँ लगातार देख रहे हैं कि उन लोगों ले साड़ियाँ किस तरह खरीदी जाती है। बाजार से उन्हें कितना कम मूल्य दिया जाता है। उसमें भी कर्ज की राशि का एक भाग काटकर, और अब

तो नगदी नहीं चेक मिलता है, जो एक महीने बाद भुनता है।"39 औद्योगीकरण की प्रक्रिया में भारी उद्योगों की स्थापना के बाद लघु एवं कुटीर उद्योग और हथकरघा उद्योग को बहुत बड़ा धक्का लगा क्योंकि भारी उद्योगों में निर्मित वस्तुएँ मात्रात्मकता, गुणात्मकता आदि ने कुटीर उद्योगो में निर्मित वस्तुओं की सापेक्षता में तो बीस होती हैं लेकिन मूल्य में उन्नीस। यहीं कारण है कि इनकी माँग और आपूर्ति दोनों निरंतर बढ़ती रही। सर्वज्ञात है कि इंग्लैण्ड की औद्योगिक कोटि के परिणाम स्वरूपं कपड़ा उद्योग से संबंधित अगणित नयी तकनीकों और मशीनों का ही अधिक आविष्कार हुआ।

इन्ही तकनीकी अनुसंधानों में एक 'पावरलूम' का आविष्कार विशिष्ट था क्योकि इसके सम्पूर्ण विश्व के वस्त्र उद्योग की मूल अधोसंरचना को ही परिवर्तित कर दिया जिसका बनारस के जुलाहों के जीवन एवं व्यवसाय पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है- "दरअसल बशीर मियाँ देख रहे थे कि 'पावरलूम' नाम के इस शैतान ने जिस तरह हाथ के कारीगरों को बेकार किया और जिसे तरह लोगों ने कर्ज लेंकर करघा गाड़ा है वह काफी महंगा पड़ रहा है। क्योंकि एक भी चीज तो अपनी नहीं है। कर्ज का करघा कर्ज का कटान सिर्फ जाँगर ही हो अपना है, वह भी सरकारी कर्ज नहीं, सरकारी कर्ज पर तो 'बड़े-बड़े गिरस्टों का पुश्तैनी अधिकार है।"40 इसी तरह जहरबाद व समर शेष है आदि उपन्यासों में भी बिस्मिल्लाह जी ने पूँजीवादी शोषण एवं दमन में पिसते आम आदमी की स्थिति को दर्शाया है। इन दोनों उपन्यास में तो वे स्वयं इस व्यवस्था के भोक्ता रहे है। जहरबाद उपन्यास में लालू बाबू 'मै' के पिता को अल्प मजदूरी देता है और पिता के साथ समान परिश्रम करने पर भी मैं की मजदूरी नहीं देता है। इस प्रकार से वह बालश्रम के साथ-साथ बेगारी प्रथा का भी पोषक-संरक्षक दिखाई देता है। 'समर शेष है' उपन्यास में कथानक सामंतो-पूँजीपतियों की समतुल्यता में अपने रिश्तेदारों, सगे-संबंधियों से अधिक शोषित होता है। उसका यह शोषण अर्थपतियों की अपेक्षा अधिक वीभत्स एवं प्रभावकारी किस्म का होता है। इस तरह से कह सकते हैं कि अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों में पूँजीवादी व्यवस्था एवं शोषण का

सर्वाधिक वीभत्स रूप चित्रित हुआ है। इस व्यवस्था में अमीर और अमीर तथा गरीब और भी दरिद्र हो रहा है। बैंक पूँजीपतियों को तो असीमित ऋण देती है लेकिन ग़रीबों के लिए उनके खजाने खाली हो जाते हैं । यह कार्य भी उच्च वर्ग के द्वारा ही किया जा रहा है। ऐसे में इस पूँजीवादी व्यवस्था के दोनो पाटों के बीच सर्वहारा वर्ग बुरी तरह से पिस रहा है।

आजादी के बाद भारतीय अर्थव्यवस्था में सुधार लाने के उद्देश्य से सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं का आरम्भ किया। इन योजनाओं में कृषि एवं उद्योग धन्धों के विकास के साथ-साथ मध्यम और निम्नवर्ग की जीवन स्थिति सुधारने संबंधी अनेक योजनाएँ भी सम्मिलित थी लेकिन लालफीताशाही एवं भ्रष्ट नौकरशाही, व्यवस्या के कारण ये सरकारी योजनाएँ या तो कागजों तक ही सीमित रह गयी या फिर नेताओं, मंत्रियों, पूँजीपतियों और संपन्न वर्ग के लोगों की तिजोरी भरने तक ही सीमित रह गयी। परिणाम यह रहा कि आजादी प्राप्त किये हुए अर्द्ध शताब्दी से अधिक का समय व्यतीत हो जाने के बाद भी मध्यम और निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति जस की तस बनी रही बल्कि अनेक संदर्भों में वह प्रतिदिन और भाषिक विद्रूप स्वरूप धारण करती रही। भ्रष्टाचार, घुसखोरी, अशिक्षा, न्यायिक बिलम्ब आदि ऐसे संख्यातीत घटक रहे है। जिसके कारण रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा, सड़क, बिजली-पानी आदि सर्वहारा वर्ग की जीवनगत मूलभूत आवश्यकताओं संबंधी सरकारी योजनाए या तो धरातल पर ही नहीं पहुँच पाती या फिर दिल्ली से निकलकर गाँवो तक पहुँचने की अपनी सुदीर्घ यात्रा में नेताओं मंत्रियों, सांसदों-विधायको, पूँजीपतियों, प्रशासनिक अधिकारियों और बाबूओं के यहाँ ही विश्राम करने लगी। यहाँ से ये फिर आगे नही बढ़ सकी और बढ़ी भी तो इनकी स्वयं की हालत जबरन यौन शोषण की गयी उस स्त्री के समान थी जो अभी-अभी किसी हवसी के चंगुल से मुक्त होकर विदीर्ण वस्त्रों में ही शिकायत दर्ज कराने के लिए थाने में गर्मी है और थाने के दरोगा एफ॰ आई॰ आर लिखने के बदले अपनी वासना के शमन की मांग कर रहे हो। ऐसे में वह निम्नवर्ग की जीवन स्थिति में बदलाव लाने की सामर्थ्य कहाँ से संग्रहित कर पाती। बिस्मिल्लाहजी ने स्वातंत्र्योत्तर भारत

की इन आर्थिक विसंगतियों के प्रत्यक्षदर्शी एवं भोक्ता दोनों रहे है, इसलिए इनके उपन्यासों में भी इनका यत्र-तत्र चित्रण देखने को मिलता है। झीनी-झीनी बीनी चदरिया उपन्यास में हाजी अभिरुल्लाह सोसायटी का चेयरमैन बनकर सरकारी धनराशि का उपयोग अपना 'पावरलूम' बैठाने में करता है- "हाजी अभिरुल्लाह ने करघो का काम अब बंद कर दिया है और उनके स्थान पर अब पावरलूम बैठा लिए है। सोसायटी से सरकार में जो सत्तर हजार रुपये मिले थे, हाजी साहब ने उसका सदुपयोग पावरलूप बैठाने में किया है। हालांकि लतीफ थोडी चू-चपड़ की थी मगर शरफूद्दीन ने ऐसा झटका दिया कि एक ही झटके में पावरलूम बन जाने से बड़ी आसानी हो गयी है।"41 सरकारी योजनाओं का नितहित में उपयोग करने का परिणाम यह होता है कि- "हाजी अभिरुल्लाह यहाँ दस पावरलूम लगे हैं। हाजी मतीउल्ला, हाजी मिनिस्टर और हबीबुल्ला ने भी अपने-अपने घरों में पावरलूम बैठा लिए हैं। उधर हाजी अभिरुल्ला के भावी समधी हाजी वलीउल्ला गिरस के यहाँ तो पहले से ही कई पावरलूम थे। इधर और आ गये हैं और वे गिने-चुने रईस अंसारियों में अब अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं।"42 अभिकथन का तात्पर्य यह है कि सरकार द्वारा सहकारी समितियों, सोसायटियों, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों एवं अन्य योजनाओं का आरम्भ करके निम्नवर्ग की जीवन-स्थिति में सुधार लाने का जो प्रयास किया गया उसका सही, क्रियान्वयन न होने तथा नेताओं, प्रशासकों और पूँजीपतियों की आपसी बंदर बाँट से इन योजनाओं का शोषित वचित मजदूर, कृषक, गरीब आदि के जीवन पर अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ सका और ये आम आदमी से कोसो दूर उच्चवर्ग की उच्चता वृद्धि तक ही सीमित होकर रह गयीं।

निर्धनता, भूखमरी और गरीबी आदि आर्थिक विसंगतियाँ समाज में अनेक तरह की कुरीतियों एवं अनैतिकताओं की जन्मदात्री होती हैं। दरअसल विवशता की स्थिति में व्यक्ति अपनी जठराग्नि को शांत करने और अपने शरीर ढ़कने के लिए अनेको तौर-तरीके अपनाता है। इनमें से कुछ सामाजिक नैतिक एवं वैधानिक दृष्टि से संगत होते हैं तो कुछ

असंगत यही असंगत तौर-तरीके कुरीति के रूप में जाने जाते हैं। बिस्मिल्लाहजी जी के उपन्यास अर्थाभाव की स्थिति में की जाने वाले अनेक कुरीतियों-अनैतिकताओं का वर्णन मिलता है। अर्थाभाव की स्थिति में ही गरीब बुनकर समाज की स्त्रियों को बुरी नज़रो से देखा जाता है, उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। कुछेक स्त्रियाँ तो किसी भी विकल्प के अभाव में वेश्यावृत्ति करने लगती हैं। गरीबी का आलम यह है कि मुट्ठी भर आटे के लिए उन्हें अपना शरीर बेचना पड़ता है। निर्धनता की स्थिति में ही लेखक को बालश्रम एवं बेगारी जैसी कुरीतियों के अतिरिक्त हड्डी बीनने जैसे घृणित कार्यो से गुजरना पड़ता है। बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में केवल अर्थाभाव की ही सामाजिक-आर्थिक कुरीतियो का प्रदुर्भावक नहीं माना गया है बल्कि अमीरी को भी इन कुरीतियों के कारण के रूप में दर्शाया गया है। संपन्न वर्ग अपनी संपन्नता में वृद्धि करने, उसका प्रदर्शन करने आदि उद्देश्यों से अपनी अमीरी को गरीबों का शोषण-उत्पीड़न करने में व्यवहृत करता है। जहाँ गरीबी और भुखमरी की स्थिति में जीवन व्यतीत करता सर्वहारा वर्ग आदर्शों, नैतिकताओं के अतिरिक्त ईमानदारी के साथ अपना जीवन-यापन करता है, वही संपन्न लोग चंद पैसों की लालच मे सारी नैतिकताओं, आदशों, मूल्यों मानदण्डों एवं मानवीयताओं आदि को ताक पर रखकर गरीबो का खून चूसने के लिए बेईमान बनने से भी परहेज नहीं करते हैं।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में मतीन इसी विसंगति के संदर्भ मे कहता है- "जो सरमायदार हैं, उनका सरमाया दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है और एक हम हैं जो दिन-ब-दिन तन-जुली की ओर लुढ़कते जा रहे हैं। हमारा माल को-ऑपरेटिव से नहीं बिकता। हमारे माल को सटटीदार पूँजी पर खरीदता है, जिसका कोई सबूत नहीं होता और हमें नगद पैसा नहीं दिया जाता है।"33 निर्धनों की ईमानदारी, नैतिकता तथा आदर्शवादिता एवं अमीरों की बेईमानी, अनैतिकता तथा मूल्यहीनता का ही परिणाम है कि- "पूरे बनारस शहर में दो लाख बुनकर है और करीब चालीस हजार करघे चलते हैं। अब तो पावरलूमों की धूम है लेकिन सिर्फ करघो की मदद से करीब पचीस-तीस करोड़ रुपयों की रेशमी साड़ियां हर

साल आप लोगो की मदद और मेहनत से यहाँ तैयार होती है। पर आपको क्या मिलता है बदले में? सिर्फ एक लुंगी। भैंस का गोश्त और नंग-धडंग जाहिल बच्चे। टी॰ बी॰ की बीमारी से छटपटाही हुई औरतें। इससे ज्यादा और क्या मिलता है।" 44

अब्दुल बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में आर्थिक विसंगतियों से पिसटी और उनसे संघर्ष करती मुस्लिम समाज की स्त्रियों को भी साथ रखा है। यद्यपि इन स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में किसी तरह का परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता है लेकिन व्यवस्था एवं विसंगति से संघर्ष करने का इनका साहस अदम्य रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं है। गरीबी एवं भूखमरी जैसी आर्थिक विसंगतियाँ न केवल मुस्लिम समाज की निम्नवर्गीय स्त्रियों के शारीरिक-मानसिक शोषण का मार्ग प्रशस्त करती है बल्कि इनके साथ होने वाले अमानवीय कृत्यों की भी अनुमोदक होती हैं। इस स्थिति में अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए घर के भीतर और बाहर दोनों जगहों पर कठोर श्रम करना पड़ता है लेकिन फिर भी इन्हें न तो इनके कार्य का उचित मूल्य मिलता है और न ही यथेष्ट सम्मान ही। बुनकर समाज की स्त्रियों का शोषण तो अव्वल दर्जे का होता है क्योंकि इस समाज में इन्हें पैरो की जूती ही समझा जाता है, जिसे जब मन करे पहना और निकाला जा सकता है। ऐसे में मुस्लिम समाज की स्त्रियों को एक साथ ही कई तरह के शोषण-उत्पीड़न से संघर्ष करना पड़ता है। यदि पति तलाक दे दे तो पेट पालने के लिए वेश्यावृत्ति जैसे घृणित कार्य करने पड़ते हैं और यदि परिवार में रहना है तो घर और घर के बाहर दोनों जगह हाड़-तोड़ मेहनत करना ही उनके लिए एकमात्र विकल्प होता है। इतना मेहनत करने के बाद भी बीमारी की स्थिति में अपना इलाज कराके तक का पैसा नहीं होता है, बल्कि इस दशा में भी इन्हें अपना परिश्रम और संघर्ष जारी रखना पड़ता है। 'झीनी- झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में इस स्थिति की विडम्बना उपन्यासकार मतीन की पत्नी अलीमून के माध्यम से अग्रलिखित प्रकार से दर्शाता है- "अलीमून को टी॰ वी॰ हो गया है। मतीन को मालूम है लेकिन वह कुछ नहीं कर सकता। घर का जो काम है वह बीबी को करना ही होगा। फेराई-भराई, नरी ढ़ोय,

साड़ी चुरा सभी कुछ करना होगा। बिना किये काम चलेगा नहीं।"45 अलीमून को टी°वी° है लेकिन फिर भी उसे घर के कार्य करने ही होंगे, फिर चाहे वह कार्य करते ही मर ही क्यों न जाय। कार्य करना और मृत्यु से भी संघर्ष करना केवल उसी के लिए ही नहीं बल्कि उसके जैसी असंख्य स्त्रियों के लिए ईश्वरीय आदेश है। क्योकि मुस्लिम समाज की पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के अनुसार- "औरत जाति की आखिर हैसियत ही क्या है? जब चाहो चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो। औरत का और इस्तेमाल ही क्या है? कतान फेरे, हाँडी़-चूली करे, साथ में साये बच्चे जने और पाँव दबाये। इनमें से अगर किसी भी काम में हीला-हवाली करे तो कानून इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हें तलाक देता है ! तलाक।"46

इसी तरह 'जहरबाद' तथा 'समर शेष है' शीर्षक उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी ने एक मुस्लिम स्त्री के रूप में अपनी माँ की जीवन-स्थिति का चित्रण किया है। सर्वज्ञात है कि परिवार में निर्धनता की स्थिति के कारण इनकी माँ भी अनेक तरह के शोषण और उत्पीड़न का शिकार हुई थी लेकिन विषमतर परिस्थितियों में भी उन्होंने संघर्ष करना नहीं छोड़ा। पति का चमड़े का व्यवसाय सही न चलने पर उन्होंने परिवार के भरण-पोषण की जिम्मेदारी अपने सर पर ले ली- "तब अम्मा न टोपरा उठाया था, अम्मा सुबह-सुबह उठती, झिरिया से पानी लाती, बर्तन मांजती और टोपरे में किराने का चंद सामान सजाकर कभी धमन गाँव कभी बिजौरा और कभी जोगी टिकरिया के लिए निकल जाती। इस बदली हुई स्थिति से अब्बा को कुछ सुकून हो गया था और युद्ध में थके सैनिक की भाँति वह विश्राम की मुद्रा में दिखाई पड़े रहते थे।"47 लेकिन इतना कुछ करने के बाद थी 'मैं' के अब्बा को संतोष नहीं था। वह पत्नी को मारते-पीटते, गाली देते हुए घर से निकालने और तलाक देने को धमकी देते रहते हैं। एक स्त्री के के रूप 'मै' की अम्मा का शोषण और संघर्ष तो वीभत्सता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर जाता है। समर शेष है उपन्यास में, रहमतुल्ला की बीबी भी इन्ही परिस्थितियों से संघर्ष करती दिखाई देती है। रहमतुल्ला स्वयं तो कोई कार्य करता नहीं है

लेकिन घर-घर चूड़ी पहनाकर लौटी अपनी बीबी को गालियाँ देता है। उसकी बीबी जितना आर्थिक विद्रूपताओं से लड़ती है उतना ही अपने पति की पितृसत्तात्मक मानसिकता से भी। क्योकि- "कभी-कभी वह बीबी को पीटता भी। उस वक्त वह इतना खूँखार हो उठता था कि औरत प्राय: नंगी हो जाती थी उसके कपड़े को वह नोथेने लगता था।"48 इस तरह से स्पष्ट है कि बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में स्त्री आर्थिक विद्रूपताओं के साथ-साथ इनसे प्रादूर्भूत विसंगतियों से भी लड़ती रहती है। अर्थाभाव की स्थिति उसके शोषण को और भी अधिक विकृति बना देती है लेकिन फिर भी वह हार नहीं मानती है, बल्कि परिस्थितियों का सामना करते हुए उन्हें बदलने के लिए संघर्षरत दिखाई देती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था का अतिरेकी पोषक मुस्लिय समाज वैसे तो स्त्रियों पर असंख्य वर्जनाए अधिरोपित करते हुए उसकी समग्र नैसर्गिक वृत्तियों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है लेकिन स्त्रियों को जानवरों से बदतर दशा का जीव मानने वाला यह समाज अपने और अपने बच्चों के भरण-पोषण के लिए इन्ही पर आश्रित रहता है। इसी हास्यास्पद स्थिति को बिस्मिल्लाह जी ने व्यंग्यात्मक शैली में अनेक स्थलों पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से उद्धृत करने का सफल प्रयास किया है।

3.2 सामाजिक चेतना का संदर्भ

अपने अस्तित्व को स्थायित्व दिलाने के बाद सरलतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने के लिए मनुष्य जाति को कुछ नियमों, नैतिकताओं, मूल्यों और मर्यादाओं की आवश्यकता अनुभूत हुई, जिसके परिणाम स्वरूप समाज, संस्था और समूह आदि मानव संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें संस्कृतियों, सभ्यताओं, मूल्यों, मर्यादाओं आदि का अंतर्वेशन करके न केवल इन्हें जीवंतता प्रदान की गयी बल्कि अपनी आवश्यकता के अनुरूप मनष्य ने इन मानव-संगठनों के आवश्यक नियमों एवं मानदण्डों का प्रावधान भी किया जिनके पालन और उल्लंघन की स्थिति में पुरस्कृत तथा दण्डित करने का विधान भी किया गया। पुरस्कार और

दण्ड के प्रावधान ने बहुत हद तक मनुष्य को इन संगठनों के प्रति उत्तरदायी बनाए रखा जिसके कारण संस्कृतियों का संरक्षण सभ्यताओं का अनुपालन परम्पराओं का निवर्हन तथा मूल्यों और मानदण्डों का पोषण अबाध गति से होता रहा आत्मपरिचालन, स्वनियंत्रण और उन्नति के उद्देश्य से नियमों तथा प्रतिमानों की सहयोज्यता में मनुष्य द्वारा बनाया गया प्रथम संगठन परिवार एवं द्वितीय संगठन समाज था। इसमें भी समाज ऐसा पहला मानवीय संगठन था जिसने बृहत्तर पैमाने पर निश्चित नियमों, मानदण्डों और उद्देश्यों के सहारे मनुष्यों को संगठित किया। क्योकि जगत के समस्त सचराचरों में से मनुष्य ही एकमात्र ऐसा जीव है जो कि विचारशील, विवेकी, बुद्धिमान तथा भाषाई दृष्टि से नैसर्गिक रूप से समृद्ध है, इसलिए यह स्वतःही अपनी चतुर्मुखी उन्नति के मानदंडों को निर्धारित करने में समर्थ होता है।

किसी भी समाज के नैतिक विकास के लिए कुछ निश्चित नियमों के अतिरिक्त उसमें एकता और संगठन की शक्ति का होना भी आवश्यक होता है। मनुष्य तो जन्मना ही एकता एवं संगठन की भावना से ओत-प्रोत होता है। एकता तथा संगठन में जो शक्ति होती है उससे भी वह भली भाँति परिचित होता है। उसे जन्मते ही अनुभूत हो जाता है कि एकांगी जीवन व्यतीत करना उसके लिए किसी भी दृष्टि से लाभदायक नहीं होगा। जैसा कि विवेच्य अध्याय की पूर्वपीठिका में अभिकथित हो चुका है कि मनुष्य के अन्य जीवन-क्षेत्र, मसलन- आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक-प्राकृतिक आदि उसके सामाजिक जीवन-क्षेत्र के अंतर्गत ही आते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी राजनीति, धर्म, संस्कृति, अर्थ और भूगोल होते हैं। अत: जब हम सामाजिक विविधता एवं विद्रूपता की बात करते हैं तो उपर्युक्त समाजेतर जीवन-क्षेत्रों संबंधी विविधताएँ एवं विसंगतियाँ थी अंतर्भुक्त हो जाती हैं। लेकिन क्योंकि समाज की आयामिक विस्तीर्णता इतनी अधिक व्यापक होती है कि एक साथ इसके सम्पूर्ण घटकों तथा प्रत्येक जीवन-क्षेत्रों का अध्ययन-अनुशीलन करना सम्भव नहीं होता है इसीलिए अध्ययन-विवेचन की सुविधा के

दृष्टिगत यहाँ समाज के सभी पक्षों का स्वतंत्र विवेचन-विश्लेषण किया जा रहा है, ठीक वैसे ही जैसे कि इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के माध्यम से सामाजिक विज्ञान करता है। इसके पूर्ववर्ती प्रकरण में अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यासों के आर्थिक पक्ष का विवेचन-विश्लेषण कर चुके हैं जबकि इस परिच्छेद में सामाजिक पक्ष का अध्ययन-अनुशीलन किया जायेगा, जो कि व्यक्ति के लिए उसके आर्थिक पक्ष जितना ही, बल्कि कई मामलों में उससे भी अधिक महत्वपूर्ण होता है।

मनुष्य का सामाजिक पक्ष उसके समाज की संगतियों-विसंगतियों, नियमों-मूल्यों, मानदण्ड, विविधताओं, आदर्श परम्पराओं, नैतिकताओं, संस्कृति, सभ्यता, विचार और दर्शन आदि के सम्मिलन में निर्मित होता है और समाज लोगों के पारस्परिक संबंधों की व्यवस्था का एक संयुक्त नाम है जिसके कारण ही सदैव इसकी प्रकृति अमूर्त एवं इसकी अवधारणा अनुभूतिजन्य रही है। समाज का प्रत्येक सदस्य समाज द्वारा निर्धारित एक सामूहिक आचरण, मूल्य और मानदण्ड से निर्देशित होता है जिसके फलस्वरूप समाज में किसी प्रकार की विद्रूपता के प्रादुर्भूत होने की सम्भावना सर्वाधिक न्यून होती है। समर्थन, सहयोग तथा विश्वास आदि के आधार पर किए जाने वाले आचरण ही सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता को बनाये रखते हैं। इसी तरह से समाज में व्यक्तियों के समुच्चय को बनाए रखने तथा समवेत रूप से समाज का कल्याण करने के लिए प्रत्येक सामाजिक सदस्य में आपसी सहयोग की भावना का सन्निहित होना भी अपेक्षित होता है। मनुष्यों के मन की गतिशीलता, विचारों की विविधता तथा आवश्यकताओं- महत्वाकांक्षाओं की भिन्नता आदि ही समाज की परिवर्तनशीलता का कारण होती है जिनके कारण ही समाज की प्रकृति कभी स्थिर नहीं रही। समाज के सदस्यों के नित्य प्रति बदलते विचार, आवश्यकता, आकांक्षा, उद्देश्य, ज्ञान आदि के अनुरूप समाज में समय-सापेक्ष परिवर्तन परिलक्षित होते रहते हैं।

आधुनिक समाज शास्त्रियों तथा समाज विज्ञानियों ने स्वरूप की दृष्टि से प्रधानत: समाज के तीन भेद या प्रकार स्वीकार किये हैं- ग्रामीण समाज, नगरीय समाज और जनजातीय समाज। भौगोलिक विस्तीर्णता एवं जनसंख्या की अधिकता की दृष्टि से ग्रामीण समाज भारत का प्रमुख समाज है जबकि जनजातीय समाज की भौगोलिक एवं जनसंख्यात्मक व्यापकता सबसे कम होती है। नगरीय समाज इन दोनों के बीच की स्थिति रखता है। शिक्षा, ज्ञान, व्यवसाय और विकास आदि की दृष्टि से जनजातीय समाज सबसे निचले सोपान पर स्थित होता है और यह मुख्यत: पहाड़ो, जंगलों एवं नदियों की घाटियों में निवास करता है। मुख्यधारा की सभ्यता, संस्कृति ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा एवं अनुसंधान आदि से असंपृक्त जनजातीय समाज में जनजातीय समुदाय के लोगों की ही बहुलता या प्रमुखता होती है तथा यह समाज अपनी पृथक संस्कृति एवं धार्मिक मान्यताओं का निर्वहन करता है। इस समाज की आय का प्रमुख साधन जंगली उत्पाद मसलन लकड़ी, फल आदि के अतिरिक्त शिकार करना, मछली पकड़ना एवं हाथों से निर्मित वस्तुएँ बनाना आदि होता है। सरलता एवं सीमित आवश्यकता के साथ जीवन व्यतीत करने वाले जनजातीय समाज में में स्त्री-पुरुष के बीच श्रम का समान वितरण होता है। शेष संसार से अलग-थलग पड़ा यह समाज शिक्षा की दृष्टि से भी अत्यधिक अकिंचन है लेकिन अन्य समाजों की समतुल्यता में यह समाज प्रकृति के साथ सामंजस्य सुस्थिर रखते हुए उसका अधिकाधिक संरक्षण करता है। कारण यह है कि जनजातीय लोगों की अपनी नैतिकताएँ, मूल्य, आवश्यकताएँ, आदर्श, धर्म एवं वैचारिक दृष्टिकोण होते हैं जिसके कारण राष्ट्र, राज्य, समाज और पर्यावरण आदि को देखने तथा इनके साथ व्यवहार करने का उनका दृष्टिकोण भी सामान्य संदर्भों से अलग होता है।

ग्रामीण समाज शिक्षा, ज्ञान, व्यवसाय और विकास आदि की दृष्टि से जनजातीय समाज की अपेक्षा अधिक विकसित लेकिन नगरीय समाज की समतुल्यता में पिछड़ा होता है। भारत के विस्तृत भू-भाग तक प्रकीर्णित ग्रामीण समाज की संरचना अत्यधिक जटिल भौर

विविधताओं से परिपूर्ण होती है। आजीविका के लिए प्रधानत: कृषि पर निर्भर इस समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था की प्रभविष्णुता के कारण स्त्री-पुरुष के मध्य कार्यों एवं अधिकार का समान वितरण न होने के कारण असमानता अधिक होती है। क्योंकि ग्रामीण समाज शिक्षा की दृष्टि से अधिक उन्नत नहीं होता है इसलिए शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान एवं अनुसंधान आदि से अविज्ञ अज्ञानतावश मूल संस्कृति और परम्पराओं का अपनी-अपनी शिक्षा, समझ और आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार परिवर्तित प्रकृति में निर्वहन करते है। जिसके कारण रूढियों, अंधविश्वासों, आडम्बरों आदि विद्रूपताओं का बोलबाला रहता है। आदर्शों एवं नैतिकताओं के बोझ तले दबा ग्रामीण समाज परिवर्तित प्रकृति में वैदिक परम्पराओं का पोषक-संरक्षक होते हुए भी एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निर्वाहक होता है।

ग्रामीण और जनजातीय समाज के समतोलन में नगरीय समाज भौगोलिक एवं जनांकिकीय दृष्टि से अधिक समृद्ध न होते हुए शिक्षा, व्यापार और विकास आदि संदर्भों में सर्वाधिक संसाधन संपन्न होता है। गाँवों के नगरीकरण की प्रक्रिया से बने नगरीय समाज पर औद्योगीकरण एवं पूँजीवादी व्यवस्था का अधिक प्रभाव होता है जो कि इसकी आर्थिक तथा शैक्षणिक समृद्धि को सुनिश्चित करता है। स्वरूप एवं संख्या में अन्य समाजों से अत्यल्प होने पर भी देश के अधिकांश प्राकृतिक एवं मानव निर्मित संसाधनों पर इसी समाज का वर्चस्व होता है। इस समाज में सामाजिक संबंध अपेक्षाकृत उथले लेकिन व्यापकता में अधिक एवं समय-सापेक्ष तथा व्यक्तिगत स्वार्थो के सर्वाधिक समीप होते हैं। उद्योग-धंधे, कल-कारखाने तथा सेवा-क्षेत्र आदि नगरीय समाज की आय के विभिन्न स्रोत होते हैं। ग्रामीण तथा आदिवासी जीवन की तुलना में नगर का जीवन अधिक गतिमान तथा आधुनिक सुख-सुविधाओं से युक्त द्वन्द्वात्मक भौतिकता का अतिशय आग्रही होता है। भौतिकता और विलासिता से चकाचौंध नगरीय समाज में स्त्री-पुरुष के मध्य समानता भी अधिक देखने को मिलती है, जिसका प्रमुख कारण शिक्षा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से इस समाज की सम्बद्धता होती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की कमजोर प्रकृति भी इसी समाज में दृष्टिगोचर

होती है क्योंकि यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर परिवार की जिम्मेदारियाँ उठाते हैं। शिक्षा की अधिक प्रसार के कारण ग्रामीण समाज में न केवल महिलाएँ अधिक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होती हैं अपितु यह समाज भी रूढ़ियो परम्पराओं, अंधविश्वासों और कर्मकाण्डो के अतिरिक्त दबाव से मुक्त होता है। इसी तरह जातिवाद, अस्पृश्यता, विधवा विवाह निषेध, बाल विवाह, बहुविवाह आदि सामाजिक विद्रूपताओं को अधिक तरजीह न देने वाला नगरीय समाज एक तरह जहाँ पाश्चात्य संस्कृति एवं जीवन-शैली का अभ्यस्त या अतिरेकी अनुकर्ता होता है वही भारतीय संस्कृति का संहारक-विनाशक भी। क्योंकि यह पश्चिम का अनुकरण करता है तथा ग्रामीण समाज इस नगरीय समाज का इसलिए इस समाज को भारतीय संस्कृति की आत्म का हत्यारा भी कह सकते हैं। 'कर्मवाद' के सिद्धांत को अधिक महत्व देने वाला नगरीय समाज बौद्धिक दृष्टि से पाश्चात्य विचारों तथा जीवन-शैलियों के सर्वाधिक समीपस्थ होता है।

जैसा कि इस अध्याय की प्रस्तावना में अभिकथित हो चुका है कि साहित्य और समाज में परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध होता है। समाज जहाँ अपनी परिस्थितियों, प्रवृत्तियों, चित्तवृत्तियों एवं घटना-व्यापारों आदि के रूप में साहित्य की सृजन हेतु विषयवस्तु प्रदान करता है वही साहित्य समाज के हितार्थ उसकी परिस्थितियों, घटनाओं आदि को सर्जनात्मक प्रकृति प्रदान कर उसका मूल्यांकनपरक विकासात्मक मार्ग प्रशस्त करता है। इन्ही अर्थों में साहित्य को समाज का दर्पण भी कहा गया है। यद्यपि साहित्य और समाज के बीच दर्पण और प्रतिबिम्ब से कहीं अधिक व्यापक एवं घनिष्ठ संबंध होता है लेकिन संबंधों की यह व्यापकता तथा घनिष्ठता प्रत्येक सोपान पर देशकाल और वातावरण के माध्यम से ही फलीभूत हो पाती है। इसे सरल शब्दों में कहें तो साहित्य की प्रासंगिकता एवं सम्बद्धता भी देशकाल तथा वातावरण के अनुरूप उसकी उपादेयता-अनुपयोगिता को सुनिश्चित करती है। किसी समय, स्थान तथा परिवेश में निवास करने वाला सर्जक अपने समाज की परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं जन-चित्तवृत्तियों आदि का ही वर्णन-विवेचन, व्यंग्य आदि रूपों में

विषयवस्तु बनाता है। वे जिस प्रकृति में होती है उसी रूप में या फिर उद्देश्य की आवश्यकनुरूप उनमें कल्पना का मिश्रण करके उनकी ओर समाज के कर्णधारों का ध्यान आकर्षित करता है तथा उनकी प्रासंगिकता-अप्रासंगिकता, लाभ-हानि आदि के आधार पर उनका संरक्षण या उन्मूलन करने अथवा उनमें यथेष्ट परिवर्तन के लिए करने न करने योग्य कार्यों का निर्देश भी देता है। निर्देशन और सुधार के इसी बिंदु पर साहित्य दर्पण वाली सैद्धांतिकी का व्यावहारिक अतिक्रमण कर जाता है। साहित्य और समाज के नैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक उत्तरदायित्वों का सर्वश्रेष्ठ निवर्हन करने वाले समकालीन साहित्य-सर्जक अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास भी इसी सैद्धांतिकी का अनुपालन करते दिखाई देते हैं। उन्होंने अपने समय और समाज की सामाजिक विसंगतियो को औपन्यासिक ताने-बाने में बुनते हुए उन्हें यथार्थपरक अभिव्यक्ति प्रदान की है। पूर्ववर्ती परिच्छेदों में समाज के जिन तीन भेदों की व्याख्या-विवेचना की गयी है उनसे से प्रथम दो अर्थात् ग्रामीण समाज और नगरीय समाज से घनिष्ठ संबंध रखने वाले बिस्मिल्लाह जी अपने उपन्यासों में इन्हीं दोनो समाजों की संगतियों-विसंगतियों के चित्रण को प्रधानता दिए हैं।

ध्यातव्य है कि इनका बाल्यकाल एवं किशोरावस्था शुद्ध ग्रामीण परिवेश में ही व्यतीत हुई थी। इसलिए ग्रामीण समाज की प्रकृति, परिवेश, प्रवृत्ति आदि का इन्हें सुक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान और अगाध अनुभव या यही आंचलिक ज्ञान और अनुभव अपनी परिपक्वताओं तथा समग्रताओं के साथ इनके उपन्यासों में सर्वत्र शब्दांकित हुआ था। इसी तरह से शिक्षा, नौकरी आदि उद्देश्यों से बिस्मिल्लाह जी को प्रयागराज, वाराणसी, मिर्जापुर एवं दिल्ली आदि नगरों में भी दीर्घकाल तक रहने का अवसर मिला है जहाँ इन्होंने नगरीय समाज की संरचना और प्रवृत्ति आदि को भी देखा-परखा है तथा इन्हें भी अपने उपन्यासों में अभिव्यक्तिपरक यथोचित स्थान प्रदान किया है। इस संदर्भ में यहाँ दो बातें और भी स्मरणीय हैं जिनमें पहली यह कि बिसिल्लाह जी के साहित्योदय से लेकर साहित्यिक प्रकर्ष पर पहुँचने की यात्रा तक अर्थात् बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक से लेकर वर्तमान सदी के प्रथम दशक तक ग्रामीण

और नगरीय समाज की आधारिक संरचना में अधिक विभेद नहीं था। इस कालावधि तक गाँवों और नगरों का सामाजिक परिवेश कमोवेश एक जैसा ही था और बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में चित्रित ग्रामीण एवं नगरीय समाज भी न्यूनाधिक भिन्नता के साथ लगभग समान प्रकृति और प्रवृत्ति के दिखाई देते हैं। हाँ यह अवश्य है कि कुछ संदर्भों में उपन्यासों के दोनो समाज तथा देश के दोनों में समाज में परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है। दूसरी बात यह कि बिस्मिल्लाह जी बनारस के बुनकर समाज या जुलाहा समाज से भी साहित्यिक-व्यावहारिक सम्बद्धता रखते है जो कि जनजातीय समाज के अधिक समीपस्थ कहा जा सकता है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे अपने उपन्यासों में जनजातीय समाज को समग्र अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफल रहे हैं। दरअसल बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में चित्रित समाज ग्रामीण एवं नगरीय समाज का समेकित रूप है जिसमें ग्राम्यता प्रधान एवं नगरीयता गौण रही है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अपने प्रवर्तन के समय समाज की प्रकृति एक ही थी जिसे आर्यावर्त के संदर्भ में भारतीय समाज कहा जाता था लेकिन कालांतर में जाति, धर्म, वर्ग आदि के अभ्युदय ने समाज को विभिन्न आधारों पर अनेक समाजों में विभक्त कर दिया। इस तरह से भाषा, बोली, जाति, धर्म, भू-भाग, उपजाति आदि के आधार पर संख्यातीत समाजों की अवधारणा अस्तित्व में भी आयी। इसी अनुक्रम में इस्लामी पंथ के प्रवर्तन के बाद जब इस्लाम मतावलम्बी बड़ी संख्या में रहने लगे तब उनका संगठन मुस्लिम समाज के रूप में जाना जाने लगा। बिस्मिल्लाह जी इसी मुस्लिम समाज में सामाजिक पारिवारिक सरोकार रखते हैं। क्योंकि इस समाज में भी समय-सापेक्ष असंख्य विद्रूपताएँ अंतर्भुक्त होती रही है इसलिए एक साहित्यकार के रूप में उन्होंने इसी समाज की विसंगतियों को अपने उपन्यासों में शब्दांकित किया है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि मुस्लिम समाज को अपनी सर्जना के केन्द्र में रखने के कारण बिस्मिल्लाह जी ने अपने समय के दूसरे समाजों में व्याप्त संगतियों-विसंगतियों के अंकन को पूर्णत: उपेक्षित कर

दिया है। दरअसल सर्जक की कोई जाति या धर्म नहीं होता है। हाँ यह अवश्य होता है कि वह जिस समाज से जन्मना जुड़ा होता है उसकी संगतियों-विसंगतियों को भलीभाँति समझ सकता है उनका मूल्यांकन कर सकता है लेकिन दूसरे समाजों में जो कुछ सही-गलत हो रहा होता है, उनको देखकर आँखें नहीं बंद कर लेता, बल्कि उन्हें भी अपनी रचनाओं का विषय बनाता है। बिस्मिल्लाह जी के संदर्भ में भी यही सिद्धांत अधिरोपित किया जा सकता है जिसके अनुसार उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रधानत: मुस्लिम समाज की विसंगतियों और विद्रूपताओं को तथा गौणत: भारतीय समाज विसंगतियों को वर्णित-उल्लिखित किया है। इसलिए उनके समय के इन दोनो समाजों की प्रवृत्तियों, परिस्थितियों आदि पर संक्षिप्त दृष्टिपात करना समीचीन प्रतीत होता है।

स्वतंत्रता, समानता एवं विश्व-बंधुत्व के सिद्धांत पर आधारित फ्रांसीसी क्रांति ने विश्वभर में फैले ब्रिटेन के सभी उपनिवेशों में वैचारिक हलचल उत्पन्न किया जिसके परिणामस्वरूप उनमें न केवल गुलामी से मुक्ति की छटपटाहट पैदा हुई बल्कि उनकी आंतरिक परिस्थितियों में भी सुधार की प्रक्रिया आरम्भ हुई। भारत इस संदर्भ में अन्य औपनिवेशिक राष्ट्री से एक कदम आगे या लेकिन फिर भी स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान भारत की सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन की प्रकृति मिली-जुली रही। इस समय एक तरफ जहाँ मध्यकालीन रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता आदि में समाज में अनेक प्रकार के अंधविश्वास, आडम्बर, अनैतिकताएँ, परमाराएँ रूढ़ियाँ आदि विद्रूपताओं को यथावत जारी रखा था वहीं दूसरी तरफ अंग्रेजों की सत्ता संबंधी स्वार्थलिप्सा से ही सही, आधुनिक शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान की जो रोशनी पश्चिमी खिड़की से आ रही थी उससे सामाजिक बिसंगतियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ रहा था। जब घाव दिख रहा हो ही ऐसा कहा हो सकता है कि उस पर मरहम न लगाया जाय और सामाजिक विद्रूपताओं रूपी धावों पर मरहम लगाने का कार्य किया-राजाराम मोहन राम स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद महात्मा गाँधी, डॉ० भीमराव अंबेडकर तथा महात्मा ज्योतिबा राव फुले सरीखे विद्वानों-विचारको ने जिन्होने

समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों का प्रणयन करके भारत की आधारिक सामाजिक संरचना में अंतर्निहित विद्रूपताओं के विरोध में अपना स्वर बुलंद किया। इन सुधार आन्दोलनों का परिणाम यह रहा कि समाज में अस्पृश्यता जैसी विकृतियों की कठोरता में शिथिलता आयी ध्यातव्य है कि भारतीय समाज सुधार आन्दोलनों का सम्बन्ध समाज के सभी पक्षों सेथा भी इसमें सावित्रीबाई फूले, पण्डित रमाबाई के अतिरिक्त साहित्यिक परिक्षेत्र में महादेवी वर्मा आदि विदुषी महिलाओं की भी सहभागिता रही थी इसलिए स्वाभाविक है कि यह समाज सुधार भारत में महिलाओं की दशा-दिशा सुधार से भी व्यापक सरोकार रखता हो, तभी तो पर्दा प्रथा, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध, बाल विवाह, दास प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों पर काफी हद तक लगाम लग सकी।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान चलाए गये समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों ने सामाजिक विद्रूपताओं की जड़ पर प्रहार करते हुए इन्हें कमजोर तो कर दिया था लेकिन इनका सम्पूर्ण उन्मूलन अभी अवशेष था। आजादी के बाद लागू भारतीय संविधान ने स्वतंत्रता, समानता आदि मौलिक अधिकारों का प्रावधान करने तथा संवैधानिक उपचारों के अधिकार से इन्हें न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय बनाकर अस्पृश्यता जैसी सामाजिक विकृतियों को दण्डनीय घोषित कर दिया। यद्यपि संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों ने असंख्य सामाजिक विसंगतियों को अमानवीय, अतार्किक घोषित करते हुए इनकी जड़ों के समूलनाश का विधान किया लेकिन इन विद्रूपताओं की जड़े समाज में मानसिक, वैचारिक एवं व्यावहारिक रूप से इतनी अधिक गहराई तक पहुँच गयी थीं कि इन्हें सहजता-सरलता से उखाड़ फेंकना कतई संभव नहीं था और हुआ भी नहीं। इसे संवैधानिक तंत्र की विफलता कहें या फिर सरकार और प्रशासन असफलता अथवा न्यायिक व्यवस्था की शिथिलता- आजादी के लगभग आधी सदी व्यतीत हो जाने के बाद तक अर्थात् विगत सदी के नौवे दशक तक भारत की सामाजिक स्थिति कमोवेश औपनिवेशिक काल वाली ही रही। नब्बे के दशक में भूमण्डलीकरण, बाजारवाद सूचना क्रांति, वैज्ञानिक एवं तकनीकि अनुसंधान

आदि के प्रभावस्वरूप समाज सुधार का दूसरा चरण आरम्भ हुआ। इसमें समाज और साहित्य दोनो क्षेत्रों में दलित-विमर्श एवं स्त्री-विमर्श की अवधारणा का ही प्राबल्य रहा, जिसके परिणामस्वरूप आधी आबादी के साथ-साथ दलित एवं पिछड़े वर्ग की जीवन-स्थिति में व्यापक सुधार देखने को मिला। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था की जड़े कमजोर हुई तथा महिला सशक्तीकरण के रूप में स्त्रियों ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे समानता और स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त किया। इसी तरह समाज के शोषित, दलीत एवं पिछड़े वर्ग तक शिक्षा की व्याप्ति ने इन वर्गों को अपने संवैधानिक अधिकारो के प्रति जागरुक बनाया, फलस्वरूप डॉ० भीमराव अम्बेडकर के समाज सुधार संबंधी दीर्घकालिक सदप्रयत्नों को सफलता मिली।

आरम्भ में यह सामाजिक परिवर्तन शहरो और शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था लेकिन वर्तमान में जैसे-जैसे शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, अनुसंधान आदि का प्रसार बढ़ता गया वैसे-वैसे गाँवो ने भी शहरों से कदमताल करते हुए अपनी स्थिति में अभूत पूर्व सुधार किया। यदि कुछेक अपवादों को छोड़ दिया जाय तो बाजारवाद, वैश्वीकरण, औद्योगीकरण, वैज्ञानिक एवं तकनीकी अनुसंधान इंटरनेट तथा सूचना और संचार क्रांति आदि वैश्विक अवधारणाओं ने तर्क एवं विज्ञान के आश्रय से यद्यपि सामाजिक विद्रूपताओं पर पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त कर लिया है लेकिन इनसे पारिवारिक विघटन अकेलापन संत्रास एवं आदर्श व मूल्यहीनता जैसी नवीन सामाजिक विसंगतियाँ भी उत्पन्न हुई। यदि मुस्लिम समाज की स्थिति-परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें तो परिलक्षित होता है कि इसका आधार इस्लाम धर्म रहा है जो कि एकेश्वरवाद सिद्धांत पर कार्य करता है। लगभग दो सदी पहले अस्तित्ववान हुए मुस्लिम समाज में एकेश्वरवादी मान्यताओं के कारण आरम्भ में वर्ग या जाती विभाजन नहीं था लेकिन कालांतर में प्राकृतिक परिवेश, संस्कृति, भाषा आदि के आधार पर इस समाज में भी असंख्य भिन्नताएँ उत्पन्न हुयी जो कि इस्लाम की सैद्धांतिकी के नितांत विपरीत थी। क्योंकि इस्लाम सम्पूर्ण मानव जाति को एक ही ईश्वर की संतान मानता है इसलिए वह किसी भी

आधार पर मनुष्यों के वर्गीकरण को उचित नहीं मानता है। लेकिन उसके मानने न मानने से क्या फर्क पड़ता हैं जब इस्लाम मतावलम्बी और मौलाना आदि अपने-अपने अनुसार धर्म की व्याव्या-विवेचना करने लगे तो इस समाज में भी अनेक तरह की मान्यताएँ और वर्ग विभाजन सामने आया। मुस्लिम समाज में भी सिया, सुन्नी, सैयद, पठान आदि अनेक वर्ग बने जो कुछ संदर्भों में एक-दूसरे से वैचारिक-व्यावहारिक विभेद रखते है। इसी तरह स्त्रियों को इस्लाम धर्म में उचित सम्मान न मिलने का दुष्परिणाम यह रहा कि परिवार और समाज में उनकी स्थिति उपभोग की वस्तु से अधिक कुछ भी नहीं रही। पर्दा प्रथा ने मुस्लिम स्त्रियों की अमानवीय स्थिति निर्मित होने में जितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी उतनी ही विवाह के समझौतावादी सिद्धांत एवं तीन तलाक की व्यवस्था ने भी। इसी तरह से परिवार में ही विवाह करने की स्वच्छंदता ने जहाँ मुस्लिम समाज की पारिवारिक व्यवस्था में अनैतिकता और अश्लीलता उत्पन्न की वही कुरान द्वारा पुरुषों की चार शादियों को मान्यता देकर स्त्रियों के शोषण दमन और उत्पीड़न को और भी प्रभावी बनाया गया। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का सर्वाधिक वीभत्स रूप भी मुस्लिम समाज में ही दृष्टिगोचर होता है जहाँ पर्दा प्रथा बहुपत्नी प्रथा, तीन तलाक, तथा हलाला आदि के नाम पर स्त्रियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है। आजादी के बाद एक दीर्घ समयावधि व्यतीत हो जाने के बाद भी इस स्थिति में यदि अपेक्षित सुधार देखने को नहीं मिलता है। मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड ने भी मुस्लिम महिलाओं की स्थिति में सुधार लाने का जो थोडा बहुत प्रयास किया वह ऊंट के मुँह में जीरे से अधिक कुछ नहीं था। समाज और धर्म सुधार आन्दोलन तथा स्त्री-विमर्श आदि का जितना प्रभाव सामान्य भारतीय की दशा-दिशा पर पड़ा है उतना मुस्लिम समाज की स्त्रियों पर नहीं। हालाँकि वैश्वीकरण, बाजारवाद, सूचना क्रांति तथा वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास आदि वैश्विक धारणाओं ने मुस्लिम समाज की स्त्रियों की दशा में भी सुधार किया है लेकिन यह सुधार पर्याप्त नहीं है। केन्द्र में आयी भारतीय जनता पार्टी को सरकार ने भले ही तीन तलाक जैसी सामाजिक विसंगति से मुस्लिम स्त्रियों को कानूनी शक्ति प्रदान

कर दी हो लेकिन व्यावहारिक रूप से यह अभी भी वर्तमान है। इसी तरह हलाला, बहुपत्नी प्रथा, स्त्री को उपभोग की वस्तु समझने की मानसिकता तथा विवाह का समझौतावादी सिद्धांत आदि के माध्यम से मुस्लिम स्त्रियों का शोषण एवं उनके साथ अमानवीयता का व्यवहार वर्तमान में भी यथावत जारी है।

उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त मुस्लिम समाज की एक और प्रमुख समस्या यह रही है कि यह समाज सदैव से ही अशिक्षाग्रस्त है। यद्यपि इस्लाम मत के प्रवर्तक पैगम्बर मोहम्मद साहब ने जिबरील के आदेशानुसार 'इकरा' अर्थात् पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया था लेकिन उनके मतानुयायी, विशेषतःभारतीय मुसलमानों ने कभी भी शिक्षा को अधिक महत्व नहीं दिया शिक्षा के संदर्भ में आजादी के कुछ दशको बाद तक तो मुस्लिम समाज की स्थिति अत्यंत भयावह थी जिसके कारण ही इस समाज में असंख्य सामाजिक-धार्मिक असंगतियों का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान में अन्य वर्गो के साथ मुस्लिम वर्ग में भी शिक्षा के प्रति जागरुकता बढ़ी है और वर्तमान मुस्लिम पीढ़ी परम्परागत पेशे को छोड़कर विद्यालयों का रुख करने लगी है जिसके कारण इस समाज में अत्याधिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है। तलाक की समस्या वैसे तो बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में समग्र भारत की सामाजिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों और घटनाओं आदि को प्रतिनिधित्व मिलता दिखाई देता है, लेकिन क्योंकि रचनाकार मुस्लिम समाज से ताल्लुक रखता है इसलिए स्वाभाविक है कि आपकी सर्जनाओं में इसी समाज की सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं की अभिव्यक्ति-परक बहुलता हो। इसे यों भी कह सकते हैं कि बिस्मिल्लाह जी की सामाजिक चेतना मुस्लिम समाज की स्थितियों-प्रवृत्तियों में से गहरा सरोकार रखती है। इसके उपन्यासों में बहुपत्नी प्रथा, तीन तलाक, हलाला एवं अशिक्षा जैसी परम्परागत सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त पारिवारिक विघटन, मूल्यहीनता, अनैतिकता, स्त्री समस्या, यौन विकृति एवं बेमेल विवाह की समस्या आदि का भी यथार्थपरक चित्रण देखने को मिलता है। तलाक मुस्लिम समाज में व्याप्त सर्वाधिक विद्रूप विसंगति है जो कि इससे पीड़ित स्त्री का जीवन वीभत्स बना देती है।

वैसे तो सामान्यतःविवाह एक ऐसा संस्कार या बंधन है जो इसमें बँधने वाले स्त्री-पुरुष को ही नहीं बल्कि दोनों के परिवारो को भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। लेकिन वैवाहिक जीवन में कभी-कभी ऐसे अवसर या स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें पति या पत्नी या फिर दोनों के लिए इस संबंध का निवर्हन करना मुश्किल हो जाता है। ऐसे में दोनों का वैवाहिक संबंध समाप्त कर लेना ही एक-दूसरे के लिए हितकर होता है।

मुस्लिम समाज में यह प्रक्रिया तलाक पद्धति से पूर्व होती है जिसमे स्त्री-पुरुष लगातार तीन बार तलाक शब्द का उच्चारण करके एक-दूसरे से वैवाहिक संबंध समाप्त कर सकते हैं। क्योंकि इस्लाम विवाह को स्त्री-पुरुष के मध्य किया गया समझौता मानता है इसलिए इस समाज में विवाह को अधिक महत्व नहीं दिया जाता है और कोई भी स्त्री-पुरुष तलाक पद्धति द्वारा इसे आसानी से समाप्त कर सकता है। लेकिन इस् तलाक पद्धति का स्त्रियों के जीवन पर अत्यंत नकारात्मक प्रभाव रहा है या यो कहले कि तलाक मुस्लिम स्त्रियों के लिए एक अभिशाप रहा है। कारण यह है कि इसका मनमाना उपयोग करते हुए पुरुष छोटी-छोटी बातों पर अपनी पत्नी को तलाक देकर उसे बेसहारा ही छोड़ देते है। कभी लड़ाई-झगड़े में, कभी पत्नी से मन भर जाने पर, कभी उसके चरित्र पर संदेह करके हो, कभी वैचारिक मतभेद में मुस्लिम पुरुष अपनी पत्नी को तलाक दे देते हैं। ऐसे में तलाकशुदा स्त्री का जीवन दोयम दर्जे का बन जाता है क्योंकि एक तो उससे दोबारा शादी करने के लिए कोई पुरुष तैयार नहीं होता, दूसरे वह बेघर हो जाती है। उसके पास आय का भी कोई साधन नहीं होता है। अकेली है तो फिर भी जैसे-तैसे अपना जीवन काट लेती है लेकिन यदि उसके बच्चे हैं तब तो उसकी दशा बहुत ही दयनीय हो जाती है। जबकि इसके विपरीत पुरुष के जीवन पर तलाक का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह दूसरे दिन ही दूसरी शादी कर लेता है लेकिन उसके द्वारा तीन बार उच्चरित तलाक शब्द संबंधित स्त्री के जीवन में भूचाल ला देता है। बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में तलाक जैसी सामाजिक विसंगति का यथार्थपरक चित्रण करते हुए बताया है कि कैसे पुरुष कभी स्वच्छंदता के लिए तो कभी

अपनी यौन इच्छा की पूर्ति के लिए कभी पारिवारिक उत्तर दायित्वों से बचने के लिए तो कभी मानसिक कुंठा में अपनी पत्नी को तलाक देकर उसका जीवन बोझिल बना देता है। अब्दुल बिस्मिल्लाह जी ने इस विसंगति को तो समाज के साथ-साथ अपने घर में भी देखा था। अर्थाभाव के कारण परिवार में सदैव कलह मची रहती थी और उनके पिता इनकी माता को मारा-पीटा करते थे। घर की स्थिति सुधारने के लिए जब उन्होंने घर-घर जाकर किराने का सामान बेचना आरम्भ किया तब पिता जी उनके चरित्र पर संदेह करने लगे। जब-जब पति-पत्नी के बीच लड़ाई-झगड़ा या मारपीट होती, पिता माँ को तलाक देने की धमकी देते और अंत में दे भी देते हैं। आत्मकथात्मक उपन्यास 'जहरबाद' में तीन तलाक के बाद संतानों के बँटवारे के प्रश्न पर माँ की क्या दशा होती है- इसका संवेदनात्मक वर्णन करते हुए 'मै' कहता है- "चंकी वह मुझे देखे बिना नहीं रह सकती थी नौ महीने तक अपने जिस्म के भीतर रखने के बावजूद कानूनन उसका मेरे ऊपर कोई अधिकार नहीं था।"49

आत्मकथात्मक शैली में लिखे उपन्यास 'जहरबाद' में अब्दुल बिस्मिल्लाह में तलाक जैसी जिस सामाजिक विद्रूपताओं का चित्रण किया है उसके वे करीबी प्रत्यक्षदर्शी रहे हैं जो कि उनके माता-पिता से अंतर्संबंधित है। पत्नी पर अत्याचार करते रहने पर भी जब पिता का स्त्री प्रताड़ना से संतोष नहीं मिलता तब उसे तलाक दे देते हैं जो कि सामान्य मुस्लिम समाज में से वैवाहिक संबंधों की समाप्ति की सर्वाधिक सरल पद्धति है। तलाक के लिए चरित्रहीनता का आरोपण भी सबसे प्रबल आधार रहा है जिसका आश्रय 'मैं' के पिता लेते हैं। तलाक के बाद मैं की माँ का जीवन अभिशप्त हो जाता है और उपेक्षित जीवन तथा समाज का विषपान करते-करते एक दिन घाटी में पकरी के पेड़ के नीचे उनका मृत शरीर बेटे को मिलता है। मुस्लिम पुरुष किसी विशेष कारण से नहीं बल्कि बात-बात में अपनी पत्नी को तलाक दे देते हैं। जब पत्नी से मन भर गया तब तलाक दे दिया। इस तरह से मुस्लिम समाज में तलाक वासना पूर्ति का सबसे सरल और बहुप्रचलित माध्यम बन चुका है।

कथानायक, मैं अपने दादा और अब्बा के संबंध में कहता है- "दादा ने दो शादियाँ की थी और अब्बा ने चार।"50

जाहिर है ये शादियाँ पहली पत्नी से तलाक लेकर ही की गयी होगी, हालाँकि यह आवश्यक नहीं है। दरअसल तलाक के लिए कोई ठोस कारण का होना अपरिहार्य नहीं होता है और इसके संदर्भ में कोई निश्चित नियम भी नहीं है। यद्यपि कुरान में इसका कोई प्रावधान नहीं है और इस्लाम में तलाक को बहुत बुरा माना गया है लेकिन फिर भी इसके लिए एक निश्चित नियम है जिनमें से एक यह भी है एकदम से तीन बार तलाक कहना गैर इस्लामी माना जायेगा। परंतु साधारण मुस्लिम समाज की पितृसत्तात्मक व्यवस्था धर्म के नाम पर अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति के लिए इस नियम को पूर्वतः दरकिनार करते हुए तलाक का मनचाहा प्रयोग करता है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास का पात्र लतीफ शराब के नशे में घर पहुँचता है तो उसकी पत्नी पेट दर्द से कराह रही होती है। वह उसे उठाकर उसकी पिटाई करता है है। सुबह जब उसकी पत्नी इमरुन उसके पास चाय-रोटी लेकर जाती है तब उसे रात वाली बात याद आ जाती है। इसके बाद वह न केवल अपनी पत्नी की पिटाई करता है बल्कि उसे तलाक भी दे देता है। कुरान में मदिरापान का भी निषेध है लेकिन लतीफ जैसे लोग इसकी परवाह नहीं करते हैं। तलाक की प्रक्रिया, कारण एवं इसके संदर्भ में लोगों की मानसिकता आदि की वीभत्सता का जो वर्णन उपन्यासकार ने पात्र मतीन के मुख से कराया है उसे सुनकर यह कभी भी नहीं वहा जा सकता है कि हम किमी की हम स्त्रियों की पूजा और सम्मान करने वाले समाज के सदस्य हैं- "लतीक ने कमरून को तलाक दिया अलीमून ने यह खबर मतीन को सुनाई तो उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। तलाक तो बिरादरी में आम बात हो गयी है। औरत की आखिर हैसियत ही क्या है? जब चाहे चूतड़ पर लात मारकर निकाल दो। औरत का और इस्तेमाल ही क्या है? कतान फेरे, हाडी चूली करे, साथ में सोए, बच्चे जने और पाँव दवाए। इनमें अगर किसी काम में

हीला-हवाली करे कानून इस्लाम का पालन करो और बोल दो कि मैं तुम्हे तलाक देता हूँ। तलाक !.... · तलाक !"51

मुस्लिम समाज में तलाक से भी अधिक विकट समस्या है- हलाला। यदि कोई पुरुष आवेश में अपनी पत्नी को तलाक दे देता है लेकिन बाद में उसे अपनी गलती का आभास हो जाता है तो या दोनों में सुलह हो जाती है तो भी हलाला के बगैर वह उस स्त्री को कानून पुनः अपनी पत्नी नहीं बना सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि वह स्त्री पहले किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करके उसके साथ यौन संबंध बनाए और बाद वह पुरुष उस स्त्री को को तलाक दे दे तभी वह अपने पहले सौहर से दोबारा निकाह कर सकती है। हलाला की यह प्रथा मुस्लिम स्त्रियों के लिए किसी अभिशाप से कम नहीं होती है क्योंकि इसमें उसकी इज्जत, मान-मर्यादा आदि की खुलेआम नीलामी होती है। लतीफ ने तलाक देने के बाद उसकी पत्नी कैमरून जबरन उसके घर जाकर रहने का विचार करती है लेकिन अलीमून उसे हलाला के नियमों का स्मरण कराता है- ".....फिर उसने यह इच्छा जाहिर की कि लतीफ अगर उसे रखने के लिए तैयार न हो तो यह उसी वक्त उस घर में चली जायेगी। लेकिन अलीमून ने उसे समझाया कि ऐसा सोचना अब बेकार है। बगैर हलाला के लतीफ के साथ वह नहीं रह सकती। पहले किसी से उसका निकाह हो वह कम से कम एक रात उस आदमी के साथ बीबी की तरह रहे और फिर वह आदमी उसे तलाक दे दे, तभी वह दुबारा निकाह पढ़कर लतीफ के साथ बीबी बनकर रह सकती है वरना नहीं। तलाक का कानून ऐसा थोड़े है।"52 हलाला के सामाजिक ही नहीं बल्कि भावनात्मक कोढ़ भी है। यह प्रथा जितना स्त्रियों की सामाजिक-मानसिक स्थिति पर कुठाराघात करती है उतना ही पुरुषों की भावनाओं पर। कभी-कभी पुरुष अत्यंत आवेश में आकर अपनी पत्नी को तलाक दे देता है लेकिन बाद में उसे अपनी गलती का एहसास होता है। ऐसे में वह यदि दुबारा अपने वैवाहिक संबंध को स्थापित करना चाहे तो भी इसी भावनात्मक विकृति का शिकार होता है। वह कैमरुन को तलाक देने के बाद अपनी गलतियों को अनुभूत करता है लेकिन वह

चाहकर भी उसे बिना दोबारा निकाह किये अपने साथ नहीं रख सकता है। ऐसे में लतीफ़ अवसादग्रस्त हो जाता है। उसने "कमरून को जब से छोड़ा है परेशान रहता है। जब तक उसका हलाला न हो जाए दुबारा लतीए के साथ वाद नहीं रह सकती। अब तो यही उपाय है कि कमरुन का निकाह किसी और से हो जाए और वह एक रात को अपने साथ रखकर उसे तलाक दे दे तब जाकर लतीफ के साथ निकाह हो सकता है।"53 इस तरह से स्पष्ट है कि तलाक और हलाला जैसी सामाजिक विद्रूपताएँ केवल स्त्रियों के लिए ही नहीं बल्कि समस्त सामान्य मुस्लिम समाज के लिए अभिशाप होती हैं और इन्हें बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में पर्याप्त महत्व एवं स्थान प्रदान किया है।

बहुविवाह एवं अनमेल विवाह की समस्या

क्योंकि कुरान मुस्लिम पुरुषों को एक से अधिक पत्नी रखने की मान्यता देता है इसलिए बहुविवाह की प्रथा का प्रचलन कोई असामान्य बात नहीं कही जाती है लेकिन यह प्रथा समस्या के रूप में तब परिवर्तित हो जाती है जब इसकी ओट में पुरुष अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए अकारण अपनी पत्नी का तलाक देकर या बिना तलाक दिए दूसरा विवाह कर लेते हैं। ऐसे में यह प्रथा केवल स्त्रियों के लिए ही नहीं समाज और परिवार के लिए भी समस्या उत्पन्न करती है। पत्नी की मृत्यु या संतानोत्पत्ति का अभाव आदि की स्थिति में कुरान ने पुरुषों को एक से अधिक विवाह की स्वीकृति प्रदान की थी लेकिन बिडम्बना यह है कि बाद में इसे यौन इच्छाओं की पूर्ति का प्रमुख साधन बना दिया गया। आज के मुस्लिम युवक तो शौकवश अनेक पत्नी रखने लगे हैं। बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासो में इस समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'जहरबाद' उपन्यास में कथानायक 'मै' बताता है कि उसके दादा ने दो और अब्बा ने चार- सादियों की थी- "अब्बा की चार शादियॉ हो चुकी थी और अम्मा चौथी बीबी के रुपये थी।"54

जैसा कि पूर्व में उल्लिखित हो चुका है कि वह विवाह की प्रथा का सर्वाधिक नकारात्य प्रभाव स्त्रियों के जीवन पर ही पड़ता है, क्योंकि दूसरी शादी करने के लिए पहली को तलाक देना पड़ता है और यदि तलाक नहीं भी दिया गया हो नई पत्नी के आने पर पहली वाली के साथ दासी से भी बदतर व्यवहार किया जाने लगता है। बिम्मिल्लाह जी के उपन्यासों की अनेक स्त्री पात्र बहुविवाह की विद्रूपता का शिकार हुई है। बहुविवाह के समान ही अनमेल विवाह की प्रथा भी एक सामाजिक विसंगति है जो कि दो परस्पर विपरीत आयु, वर्ग, आर्थिक स्थिति आदि से संबंध रखने वाले स्त्रियों और पुरुषों के बीच में होता है। वैसे तो मुस्लिम समाज में वर्ण एवं जाति के आधार पर विभेद नहीं पाया जाता है लेकिन वर्ग, समुदाय और आर्थिक स्थिति के आधार पर यह समाज भी अनेक स्तरों पर विभाजित है। इस समाज में बेमेल विवाह की जो समस्या दिखाई देती है ज्यादातर अमीर और गरीब के बीच की या फिर असमान आयु वर्ग के बीच की होती है। निर्धनता के कारण माता-पिता अपनी कम उम्र की बेटी का विवाह अधेड़ उम्र के पुरुष से कर देते हैं। इसी तरह धनाढ्य वर्ग के लोग पैसों और सुख-सुविधाओं का लालच देकर गरीब की बेटी से विवाह कर लेते हैं। इस अनमेल विवाह से पारिवारिक एवं वैवाहिक जीवन में अनेक तरह की असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। गरीब की बेटी का अमीर के यहाँ कोई सम्मान नहीं होता बल्कि उसके साथ नौकरानी जैसा व्यवहार किया जाता है। पति अपनी पत्नी को धन का धौंस दिखाकर अनेक तरह से प्रताड़ित करता है। कभी-कभी तो माँ-बाप पैसों की लालच में अपनी बहुत कम उम्र की बेटी का विवाह किसी बुजुर्ग या, शारीरिक रूप से विकलांग किसी अधेड़ उम्र के व्यक्ति के साथ कर देते है, जिससे वैवाहिक संबंध अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रह पाता है और लड़की तलाक लेकर या देकर वापस अपने माता-पिता के सर पर बोझ बन जाती है।

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यासों में ऐसी अनेक स्थितियों का चित्रण किया है जिसमे अर्थाभाव के कारण पहले अनमेल विवाह होता है और फिर बाद में दोनों के बीच

तलाक हो जाता है। लेखक के माता-पिता के बीच वैचारिक मतभेद ही तलाक का कारण बनता है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास के पात्र बशीर की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय होती है जिसके कारण वह अपनी लड़की रेहाना की शादी एक शादी-शुदा पुरुष लतीफ के साथ कर देता है जो कि एक बच्चे का बाप होता है और जिसने अपनी पत्नी कमरुन को अकारण ही तलाक दे दिया है। जब लबी बीमारी के बाद रेहाना काल कवलित हो जाती है तो लतीफ अपनी पहली बीबी कमरुन को जबरदस्ती अपने घर पर रख लेता है जो कि इस्लाम के सिद्धांतो के अनुसार गैर-सामाजिक होता है। अनमेल विवाह केवल इस्लामी मान्यताओं पर ही कुठाराघांत नहीं करता है बल्कि यह मूल्यों के विघटन, संयुक्त परिवार की प्रथा के खण्डन, तलाक व हलाला आदि अनेक समस्याओं का प्रादुर्भावक संपोषक भी होता है, जिनकी ओर ध्यान दिलाने का सफल प्रयास उपन्यासकार ने किया है।

यौनिकता की समस्या-

यौनिकता की समस्या भी एक तरह की सामाजिक समस्या ही होती है। कारण यह है कि स्त्री-पुरुष के बीच के यौन संबंधों को वैधता-अवैधता का निर्धारक समाज ही होता है। यौन इच्छाएँ प्राकृतिक होती हैं तथा अपाधिक रूप से यह प्रत्येक मनुष्य में वर्तमान होती है। जिस मनुष्य में ये इच्छाएँ अधिक बलवती होती है वह इनकी पूर्ति के लिए अनेक प्रक्रियाएँ अपनाता हैं। इसमें विवाह के माध्यम से की गयी यौन इच्छा पूर्ति को ही समाज नैतिक और वैध मानता है लेकिन जब से समाज में भौतिकतावादी चकाचौंध बढ़ी है तबसे प्रत्येक मनुष्य की यौन इच्छाएँ भी अधिक बलवती हुई हैं और वर्तमान में तो यह इच्छा कम उम्र में ही विकराल रूप धारण कर लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि विवाह से पूर्व ही लड़के-लड़कियाँ अनैतिक रूप से अपनी इच्छाओं को पूरी करने लगते हैं। हालांकि इस्लाम में एक से अधिक विवाह तथा हलाला की प्रथा को मान्यता देकर अथवा कम उम्र में ही विवाह की स्वीकृति प्रदान कर यौनिकता संबंधी इस विसंगति को नियंत्रित करने का प्रावधान किया

गया है लेकिन फिर भी स्थिति नियंत्रण में नहीं है। स्त्रियाँ तो फिर भी लोक-लाज के भय से अपनी यौन इच्छाओं को नियंत्रित कर लेती है लेकिन पुरुष इसके लिए लोक-लाज को त्यागने में भी कोई संकोच नहीं करता है। बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में यौनिकता की इस समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

'जहरबाद' उपन्यास में लोखरी और फुलझर विवाह से ही पूर्व ही संबंध बना लेते हैं। इसी तरह 'समर शेष है' उपन्यास में चक्की चलाने वाले लड़के सुगरू की कामचेष्टा उतनी अधिक प्रबल है कि वह चक्की पर आने वाली हर लड़की को वासना की दृष्टि से देखता है और अंत में अपनी एक सहेली के माध्यम से करियई के साथ यौन संबंध बनाने के बाद उसके पल्लू में थोड़ा सा आटा बाँध देता है। इसी तरह के और भी पात्रों की योजना बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों मे देखी जा सकती है जो यौन समस्याओं से संघर्ष करते दिखाई देते हैं। लेकिन बिस्मिल्लाह जी ने इस यौनिकता के चित्रण में एक विशेष परिपाटी का अनुगमन किया है जो कि वर्तमान संदर्भों में उतनी प्रासंगिक तो नहीं है परन्तु निवर्तमान सदी के प्रथम दशक तक उसकी यथार्थवादी प्रकृति यही थी। वह परिपाटी यह है कि स्त्री पात्रों की यौनिकता का आधार निर्धनता और पुरुष पात्रों की यौनिकता का आधारिक कारण वासना वृत्ति रही है। स्त्रियाँ जो दूसरे पुरुषों के साथ यौन संबंध बनाती हैं उसका प्रमुख कारण उनकी गरीबी होती है लेकिन पुरुष पात्र जब ऐसा करते हैं तब यौन इच्छाओं की पूर्ति ही उनका प्रमुख उद्देश्य होता है।

सामान्य स्त्री-जीवन की समस्याएँ

जैसे प्रत्येक सिक्के के अनिवार्यत: दो पहलू होते है वैसे समाज और मानव अस्मिता के भी स्त्री-पुरुष नामक दो पहलूओं के समिलन से निर्मित होती है। स्त्रियों के अभाव में समाज तो क्या मानव सभ्यता तथा पुरुष सत्ता की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। ऐसे ही नहीं भारतीय संस्कृति में स्त्री को अर्द्धांगिनी एवं वर्तमान परिवेश में आधी आबादी कहकर

सम्बोधित किया जाता है। भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान सर्वोपरि रहा है। जहाँ उसका सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं। लेकिन जब इस सिद्धांत वाक्य- 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमंते तत्र देवता:' के व्यावहारिक अनुपालन की बात आती है तो पुरुष प्रधान समाज अंधा-बहरा बन जाता है जिसका परिणाम यह रहा कि है कि समाज में स्त्रियाँ शोषण एवं उपेक्षा का शिकार होती रही।

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था ने अपने हितों को ध्यान में रखते हुए परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, मूल्य, आदर्श व नैतिकता आदि के नाम पर असंख्य कृतिम बंधन स्त्रियों पर अधिरोपित कर दिया, जिससे दीर्घकाल तक उनका मनचाहा शारीरिक और मानसिक शोषण किया जा सके। जबरन त्याग, प्रेम एवं स्नेह की प्रतिमूर्ति बनाने के बाद स्त्री से उसके सभी प्राकृतिक अधिकार भी छीन लिए गये जिससे धीरे-धीरे वह प्रत्येक संदर्भ में पितृसत्ता की अधीनता स्वीकार करती चली गयी। जो बाल्यकाल में पिता की अधीनता, यौवनकाल में पति की अधीनता तथा वृद्धावस्था में पुत्र की अधीनता में जीवन व्यतीत करना ही उसकी नियति बन गयी। सभी अधीन हाथों में पुरुष पर आर्थिक निर्भरता स्त्री शोषण का सर्वाधिक सबल आधार रहा है जिसके कारण उसे परिवार और समाज में दासी या नौकरानी से अधिक सम्मान कभी नहीं मिल पाया है। पोषण और संरक्षण के नाम पर ही तो पुरुष स्त्रियों का भाग्य विधाता बना बैठा है। जब सनातन हिंन्दू धर्म ग्रंथों में स्त्री को देवी का दर्जा दिया गया है, लेकिन व्यावहारिक रूप से समाज में अनेक कुप्रथाओं, कुरीतियों आदि के माध्यम से उसका चहर्मुखी शोषण होता है तब मुसलमानों के धार्मिक ग्रंथ कुरान में तो उपभोग को वस्तु करार दिया गया है। ऐसे में इसका अंदाजा लगाया जा सकता है कि मुस्लिम समाज में कुरीतियों, कुप्रथाओं के माध्यम से स्त्रियों का शोषण किस स्वरूप में और किस सीमा तक होता होगा। यद्यपि आधुनिकता, वैज्ञानिकता, भूमण्डलीकरण बाजारवाद संविधान आदि के चलते वर्तमान में स्त्रियों के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन घटित हो चुका है और आज स्वतंत्रता, समानता एवं शिक्षा आदि के संदर्भ में महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल

रही है लेकिन यह बात केवल उच्च वर्गीय मुस्लिम स्त्रियों पर ही लागू होती है। इस वर्ग की महिलाएँ ही अपने अधिकारो के प्रति सचेष्ट होकर पितृसत्ता को चुनौतियाँ दे रही हैं और यही वास्तव में सशक्त, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से भी आगे निकल रही हैं। इसके विपरीत सामान्य मुस्लिम स्त्रियाँ आज भी तलाक, हलाला, अनमेल विवाह, बहुविवाह आदि विसंगतियों से संघर्ष करती, अपने मनुष्यगत मौलिक अधिकारों से अनभिज्ञ, दिन-रात पति के साथ घर के बाहर और भीतर कार्य करते हुए परिवार के पालन-पोषण में ही मसगूल हैं। कठोर श्रम ने बाद भी सामान्य स्त्रियाँ आर्थिक रूप से पुरुषों पर ही निर्भर हैं। परिवारिक, हिंसा, कलह, यातनाएँ आदि इनके जीवन में समस्यागत बोनस होती हैं। शायद यही कारण है इस समाज में भी स्त्री का जन्म लेना माँ-बाप के लिए किसी अभिशाप से कम नहीं होता। परिवार की इज्जत माँ बाप की इज्जत, नैतिकता एवं आदर्शों का भारी भरकम बोझ ढोने वाली नारी अपनी आँखे खोलना ही नहीं चाहती और पुरुष प्रधान समाज, गरिमा, प्रतिष्ठा, मर्यादा के लबादे डालकर, पुरुष स्वार्थ सिद्ध करने वाले पक्षों का सहारा लेकर उसके पर कतरता रहता है।"55

यद्यपि वर्तमान परिवेश में परिस्थितियाँ काफी परिवर्तित हो चुकी हैं और आज चारो ओर स्त्री-पुरुष समानता का व अभिभाषणिक उद्घोष होने लगा है लेकिन फिर भी एक सामान्य मुस्लिम स्त्री का जीवन अनेक तरह की समस्याओं, बंधनों, रूढ़ियों आदि से घिरा हुआ दिखाई देता है, जिसका चित्रण बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में किया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास का रईस हाजी अमीरुल्लाह पाँच बच्चों का बाप है लेकिन अपनी पत्नी से खुश नहीं रहता। बगीचे की देखभाल के लिए एक तलाकशुदा औरत रखी है जिसे लोग उसकी रखैल मानते हैं। स्त्री अपने ऊपर आए बड़े से बड़े संकट को सहन कर सकती है। लेकिन वह अपनी सौतन के रूप में किसी स्त्री को बर्दाश्त नहीं कर सकती है। परंतु हाजी अभिरुल्लाह की पत्नी सौतन का दुख सहने के लिए अभिशप्त है। इसी तरह इस उपन्यास में स्त्री जीवन की अनेक समस्याएँ, मसलन-पति के साथ कठोर श्रम के बाद भी

इलाज और वस्त्र आदि के लिए पत्नी के पास पैसे न होना, इलाज के अभाव में मर जाना, फटे-पुराने कपड़ों में ही जीवन व्यतीत करना, घर के भीतर और बाहर दोनो जगह हाड़-तोड़ मेहनत करना, पति के निकम्मेपन की स्थिति में परिवार का भरण-पोषण कर आदि चित्रित हुई हैं। अलीमुन को तपेदिक है और वह जानती है कि उसकी मृत्यु समीप है क्योंकि इलाज के लिए उसके पास पैसे नहीं है इसलिए वह अपने पति को नजवनियाँ से विवाह कर लेने की सलाह देती है। नजवनिया पिता रऊफ चाचा भी अपनी पत्नी का निकाह करने में आर्थिक रूप से असमर्थ है इसलिए विवशता वश वे अपनी बेटी का विवाह मतीन के साथ कर देते हैं। एक सामान्य स्त्री के जीवन में जितनी समस्याएँ हो सकती है सभी का अभिव्यक्तिपरक समाहार बिस्मिल्लाह जी ने अपने इस उपन्यास में किया है।

पारिवारिक मूल्यों में विघटन की समस्या

वर्तमान भौतिकतावादी यांत्रिक संस्कृति का मानव-जीवन पर सर्वाधिक दुष्प्रभाव रहा है कि इसमें अधिकांश पारिवारिक मूल्य निर्धारित हो गये है। परिवार जो कि सामाजिक जीवन का मूलाधार होता है आज अपने मूल स्वरूप और उद्देश्य को खो चुका है। भारतीय संस्कृति में संयुक्त परिवार की प्रथा अपना महत्वपूर्ण एवं बुनियादी स्थान रखती है लेकिन बाजारवाद भौतिकतावाद आदि ने जैसे- "अब्बा को गालियाँ दे रहा था और ईखार को मना रहा था कि वह शीघ्र ही मर जाए। मैं सोच रहा था कि यदि वे आज ही मर जाए तो कल मै अम्मा को बुलाऊँगा और हम मजे से रहेंगे। जल्दी ही मैं ब्याह कर लूँगा और थोड़े से खेत खरीद लूँगा।"56 आज के समय पैसा ही सब कुछ है। जिसके पास पैसा है लोग उसी के साथ संबंध रखते हैं, उसी की सहायता करते हैं। 'समर शेष है' उपन्यास का कथानायक 'मैं' अनाथ होने के बाद अपने चचेरे भाई का शरणागत होता है लेकिन भाभी उस पर शारीरिक और मानसिक अत्याचार करती है। परेशान होकर 'मै' भाभी के घर से भाग जाना चाहता है तब उसे एक भाई समझाता है- "देखो भाई तुम्हारा वक्त अभी खराब है, चार बात सहकर

अपना काम तुम्हें निकाल लेना चाहिए। जब हम पढ़-लिखकर चार पैसे कमाने लगेंगे तो यहाँ लोग तुम्हारा मैला साफ करने को तैयार रहेंगे जो तुम्हें आज कुत्ते की तरह दुत्कार रहे हैं।"57 व्यक्तिवादिता और स्वार्थ ने मनुष्य के सभी मूल्यों, संस्कारों और आदर्शों आदि को आवरित कर लिया है। आज बिना किसी स्वार्थ के कोई अपने भाई तक की मदद नहीं करता और कर भी देता है तो सोचता है कि जिसकी उसने मदद की है वह उसका आजीवन एहसान मंद रहो 'मै' निराश्रित होकर अपने फुफेरे भाई का शरणागत होता है और वही कार्य करने लगते है लेकिन जब वह अपने काम के पैसे मांगता हैं तो उत्तर में उसका भाई जो कुछ भी कहता है, वह मनुष्यता पर अमानवीयता का दण्ड प्रहार ही है- "पैसे मांगते तुम्हें शर्म नहीं आती? जितने हुम्हारे पैसे मिले है उससे ज्यादा का तो तुमने खाया ही होगा। तुम्हें तो हमारा एहसान मानना चाहिए कि अपने घर में तुम्हें रखे हुए हैं।"58 एकता, पारस्परिक सहयोग की भावना आदि समाज के आधारिक मूल्य माने जाते हैं। एक-दूसरे के सुख-दुख में मरनी-करनी, शादी-मुंडन आदि में सभी गॉव वासी मिलकर कभी एक-दूसरे की सहायता किया करते थे, दूसरे की बहन-बेटी को अपनी बहन-बेटी, दूसरे की भूख, गरीबी, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि को अपना समझते थे लेकिन आज समाज में इन मूल्यों का विलोप हो गया है, अब न तो समाज में परस्पर सहयोग की भावना रही और न ही लोग दूसरे की इज्जत व सम्मान को अपनी इज्जत व सम्मान समझते हैं, बल्कि एक-दूसरे को येन केन प्रकारेण नीचा दिखाने के लिए अमादा रहते हैं जिसके कारण समाज में एक तरह का भय व्याप्त हो गया है। 'मुखड़ा क्या देखें' उपन्यास में पं० सृष्टिनारायण पाण्डेय अपनी बेटी की शादी में है अली चुड़िहार के न आने से उसकी पिटाई कर देता है। अली चूड़िहार अपनी बेटी रनिया की इज्जत को लेकर परेशान रहता है क्योंकि फुल्लीपर लोगों की नियत पहले बिगड़ चुकी है। अली चुड़िहार को इस बात का भय हो बात है कि उसकी बेटी रनिया को कोई चूड़ी पहनाने के बहाने घर पर बुलाकर उसके साथ कुछ गलत न कर दे। इसी भय और अपनी इज्जत व मान-सम्मान के दृष्टिगत अंत में परिवार सहित गाँव छोड़ देता है। इसी

तरह 'समर शेष है' उपन्यास में स्त्री संबंधी मूल्यों के पतन का भी चित्रण किया गया है जहाँ सुकऊ अपनी करियई नामक प्रेमिका जो कि अधेड़ उम्र की काली-कलूटी महिला होती है- की निर्धनता का लाभ उठाते हुए उसका यौन शोषण करता है। गरीबी की स्थिति में उसका सहयोग करने के बजाय उसकी विवशता एवं अकिंचनता को अवसर समझकर सुकऊ अपनी प्रेमिका के जिस्म का सौदा कर लेता है। कथानायक के शब्दों में- "अपनी एक सहेली के माध्यम से वह सुकऊ के पास आया करती थी और जाते वक्त थोड़ा-सा आटा उसके पल्लू में बँधा होता था।"59

तलाक, अनमेल विवाह, हलाला, नैतिकता तथा पारिवारिक एवं सामाजिक मूल्यों का विघटन आदि सामाजिक विद्रूपताओं के अतिरिक्त एतद्विषयक वृद्ध और भी सामाजिक विसंगतियाँ रही हैं जिनके भोक्ता या प्रत्यतदर्शी बिस्मिल्लाह जी रहे हैं और जिनका यत्र-तत्र चित्रण उनके उपन्यासो में भी प्रत्यक्षित होता है। इन समस्याओं में भुखमरी की समस्या, आश्रय की समस्या, वस्त्र की समस्या बंधुआ मजदूरी और अवैतनिक श्रम की समस्या, बालश्रम, के साम्प्रदायिकता, सामाजिक असहिष्णुता, अशिक्षा, कुरीति, अंधविश्वास, मुसलमानों के प्रति समाज की गलत अवधारण एवं अल्पसंख्यक समाज को जबरन पाकिस्तान और आतंकवाद से सम्बद्ध करने की मानसिकता आदि -आदि शामिल रही है। उपन्यासकार ने यथास्थान इन सामाजिक विसंगतियो का चित्रण करके अपने उपन्यासों का सामाजिक तथा संवेदनात्मक फलक विस्तीर्ण करने में पर्याप्त सफलता अर्जित की है।

3.3 राजनीतिक चेतना की व्यापकता

सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि जीवन क्षेत्रों की भाँति ही राजनीतिक परिक्षेत्र भी जीवन से अपरिहार्य सम्बद्धता रखता है। किसी समाज और राष्ट्र का निर्धारित विषयों एवं व्यवस्थाओं के अनुरूप प्रशासनिक संचालन करना तथा अपने सदस्यों या नागरिकों का प्रतिनिधित्व करना ही राजनीति का प्रमुख कार्य होता है। एक अदृश्य संस्था

के रूप में राजनीति समाज या राष्ट्र में नियमों का निर्धारण, व्यवस्थापन और नियमों के निर्धारण, व्यवस्थापन में जन भागीदारी को सुनिश्चित करने का कार्य करती है। ऐतिहासिक एवं भौगोलिक परिदृश्य के सापेक्ष इस राजनीति की प्रकृति अलग-अलग होती है जिसे हम राजतंत्रात्मक, लोकतंत्रात्मक, जनतंत्रात्मक या गणतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के नाम से जानते हैं। यदि भारतीय उपमहाद्वीप के संदर्भ में बात करें तो यहाँ प्राचीन काल में राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था विद्यमान थी जिसमें राजा' देश का सर्वेसर्वा हुआ करता था और राजा का चयन वंशानुगत आधार पर होता था। मध्यकाल के आरम्भ तक कमोवेश यही स्थिति विद्यमान रही लेकिन मुस्लिम आक्रांताओ के आने के बाद राजा के अतिरिक्त बादशाह, मनसबदार, सामंत आदि भी प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े और एक तरह से राजनीति का विकेन्द्रीकरण हुआ। इसके बाद कुछ समय तक भारतीय राजनीति कंपनी शासन के अधीन रही जिसमे ब्रिटिश सरकार देश को प्रांतों, जनपदों एवं स्थानीय निकायों आदि में विभक्त कर विभिन्न पदाधिकारियों के माध्यम से शासन करती रही। प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन के बाद स्थिति को ब्रिटिश हुकूमत ने कंपनी शासन को समाप्त कर औपनिवेशिक शासन व्यवस्था लागू की। ब्रिटिश सरकार विभिन्न स्तर के अधिकारियों को नियुक्त करके यहाँ भेजती थी जो उसके निर्देशानुसार शासन व्यवस्था को चलाते थे लेकिन इस कालावधि में भारतीय राजनीति का नया स्वरूप निर्मित हुआ।

अंग्रेजों ने शासन में सुविधा के दृष्टिगत प्रशासनिक व्यवस्था को अनेक सोपानों में विभक्त रखा था जिससे स्थानीय राजनीति के विकेन्द्रण में अभूतपूर्व सहायता मिली। पहले की तरह सामंत और राजा अब भी ये जो कि स्थानीय शासन व्यवस्था को नियंत्रित करते थे लेकिन इनके अधिकार अब सीमित हो चुके थे और प्रशासन की बड़ी इकाइयों से लेकर छोटी इकाइयों ब्रिटिश अधिकारियों की ही व्यवस्थापक प्रभविष्णुता थी। ब्रिटेन के आर्थिक एवं राजनीतिक चंगुल से मुक्त होने के लिए स्वाधीनता आन्दोलन का आरम्भ हुआ जिसने भारत की आधुनिक राजनीति को एक नयी दिशा एवं दशा प्रदान की। दीर्घकाल तक चले

इस आन्दोलन में अनेक प्राणों की आहुतियाँ देने के बाद मिली आजादी ने भविष्य का एक होनहार स्वप्न दिखाया जिसकी साकार करने का उत्तरदायित्व लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था को मिला। क्योकि इस लोकतंत्रीय शासन प्रणाली का आधार संविधान था और संविधान ने राजनीति में जनमानस की अधिक से अधिक जनभागीदारी सुनिश्चित करने के लिए राजनीति का पूर्णत: विकेन्द्रीकरण कर दिया है जिसमे केंन्द्रीय का स्तर पर लोकसभा और राज्य सभा, राज्य स्तर पर विधान मण्डल, विधान परिषद, जनपद स्तर पर सांसद, विधायक, जिला पंचायत सदस्य, मेयर, महापौर आदि ग्राम्य स्तर पर ग्राम प्रधान आदि शामिल है और इसमें पंचायती राज व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका रही है इसलिए वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को अधिक लोककल्याणकारी कहा जा सकता है। इस विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में केन्द्रीय स्तर पर लोकसभा, राज्य सभा और राष्ट्रपति विधायिका के प्रमुख अंग है जिसके द्वारा प्रधानमंत्री के नेतृत्व में बनाये गये नियमों-विधानों को लागू करने का कार्य कार्यपालिका कर रही है। द्विसदनात्मक व्यवस्था वाले राज्यों में यही कार्य राज्यपाल, विधानसभा ...और विधान परिषद करती है जिसका नेतृत्व प्रांत प्रधान या मुख्यमंत्री करता है। व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के समर्पित उत्तरदायित्वों का निवर्हन न्यायपालिका सुनिश्चित करती है।

ऊपर के प्रकरण में भारतीय राजनीति के ऐतिहासिक स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा-परिचर्चा करते हुए बताया जा चुका है कि वर्तमान भारत की राजनीतिक व्यवस्था लोकतंत्र पर आधारित है जिसमे संवैधानिक प्रावधानों के अनुरूप प्रत्यक्ष रूप से जनता के द्वारा चुनी हुई सरकार जनता के लिए शासन करती है। इसी तरह से भारत एक गणतंत्रात्मक अधिराज्य भी है जिसमे राष्ट्र का आधिकारिक मुखिया अर्थात् राष्ट्रपति वंशानुगत न होकर जनता द्वारा चुने गये जन प्रतिनिधियों द्वारा अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से चुना गया होता है। जैसा कि अब्राहम लिंकन ने लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा किया जाने वाला शासन कहा था लेकिन यह सिद्धांतवाक्य जितना पढ़ने और सुनने में आनन्द प्रदान करता है

उतना व्यावहारिक रूप में नहीं, विशेषता भारतीय राजनीति के संदर्भ में। कारण यह है कि अपने उदभव काल से लेकर वर्तमान तक की सुदीर्घ यात्रा में भारतीय राजनीति विसंगतियों और विद्रूपताओं का कोषागार होने के साथ-साथ टकसाल भी रही है। वर्तमान परिवेश में तो इसमें इसी अधिक असंगतियाँ अंतर्भुक्त हो चुकी है कि यह न केवल अपने उद्देश्य से भटक गयी है बल्कि स्वार्थी नेताओं के माध्यम से यह अपने ही हाथों लोकतंत्र का गला घोटने लगी है। राजनीतिक विषाक्तता ने आज लोकतंत्र, गणतंत्र, आजादी, संविधान आदि का पर्याय ही बदलकर रख दिया है, लेकिन यह सब अचानक नहीं बल्कि एक प्रक्रिया के तहत धीरे-धीरे हुआ। राजनीति क्षेत्र में आज जो विसंगतियां दिखाई देती है वे कालक्रम में वीभत्स अवश्य हुई है लेकिन सर्वथा न थी न ही है। उनकी एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि रही है जिसे समझने के लिए हमें पुनःस्वाधीनता आन्दोलन के दौर में जाना होगा।

जिस तरह से मुस्लिम समाज सदैव शिक्षा से वंचित रहा या फिर षड़यंत्र वश राजनीति द्वारा कर दिया गया है उसी तरह यह राजनीति में सक्रिय सहभागिता से भी दूर रहा ऐसा भी हो सकता है कि शिक्षा के अभाव में यह राजनीति की समझ विकसित न कर सका हो या फिर राजनीतिक सहभागिता न होने के कारण ही यह शिक्षा से दूर हो गये थे। आजादी के समय से लेकर आज तक मुस्लिम समाज वोट बैंक की राजनीति के केन्द्र में रहा है और इससे अलग इस समाज की कोई अस्मिता ही नहीं रही। इस वर्ग का राजनीतिक प्रतिनिधत्व करने वाले मोहम्मद अली जिन्ना हो या असद्दुदीन ओबैसी इन्होंने अपनी राजनीतिक रोटी सेंकने के लिए ही अपने समाज का उपयोग किया है। अपने इस उद्देश्य के लिए वे कभी बाबरी मस्जिद पर हो, कभी तीन तलाक पर, कभी अल्लाह के नाम पर हो, कभी जन्नत के नाम पर साधारण मुस्लिम समाज हिन्दू समाज से लड़ाते रहे है। परिणाम यह रहा कि भारत का मुस्लिम समाज शिक्षा एवं विकास के स्थान पर धार्मिक कट्टरता में उलझ कर रह गयी, जिसका सर्वाधिक फायदा नेताओं को हुआ। नेता किसी भी वर्ग, जाति, धर्म, समुदाय आदि का हो, उसके लिए उसकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं ही सर्वोपरि होती है, न कि समाज या

राष्ट्र लेकिन साधारण जनमानस इस घृणित राजनीति को नहीं समझ पाता और नेताओं के सासे में मँहगाई, गरीब, शिक्षा, रोजगार आदि जीवनात मूलभूत आवश्यकता मुस्लिम समाज के साथ भी यही हुआ। उसका राजनीतिक शोषण एवं उपयोग होता रहा लेकिन मुस्लिम, कुरान, कांफिर, जन्नत आदि में उलझा मुसलमान न ही इसे समझ पाया और न ही हुक्मरानों से कभी अपनी जीवन स्थिति सुधारने, अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को पूरी करने तथा अपने मौलिक अधिकारों के संरक्षण की मांग की। वह वोट देकर सरकारें बनाता रहा और सरकारे उसे धर्म का लालीपाप चटाती रही, परिणाम यह हुआ कि आजादी प्राप्त किए आधी सदी से अधिक का समय व्यतीत हो जाने के बाद भी साधारण मुस्लिम समाज की जीवन-स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। अब्दुल बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में मुस्लिम समाज की इन्हीं राजनीतिक बिडम्बनाओं को औपन्यासिक अभिव्यक्ति प्रदान की है जिनमें राजनीतिक अज्ञानता, नेताओं की महत्वाकांक्षा एवं अवसरवादिता, भ्रष्टाचार, चुनावी धांधली, वोट बैंक की राजनीति, दल-बदल प्रणाली, जातिवादिता, साम्प्रदायिकता, कुटिलता, नीतिविहीनता, नेतृत्व क्षमता का अभाव व्यवस्थागत विद्रूपता, प्रशानसिक भ्रष्टाचार और तानाशाही, राजनीतिक शोषण एवं वोटो की खरीद-फरोत आदि शामिल है।

राजनीतिक उपेक्षा शोषण एवं साम्प्रदायिक की समस्या

आजादी के बाद जिस तरह से मुस्लिम समाज ने राजनीतिक उपेक्षा की, ठीक तरह से राजनीति ने मुस्लिम समुदाय को भी उपेक्षित रखा। परिणाम यह हुआ कि हम समाज में जहाँ एक ओर परम्परागत मूल्यों का विघटन हुआ वहीं दूसरी ओर नवीन मूल्यों का प्रादुर्भाव भी जो कुछेक मुस्लिम नेता रहे भी वे राष्ट्रीय एवं वर्गीय हितो की अपेक्षा वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति को अधिक महत्व दिये और राजनीति के सहारे साधारण मुसलमानों का आर्थिक और मानसिक शोषण करते रहे। दूसरे नेताओ की तरह सत्ता के भूखे मुस्लिम नेता भी इस वर्ग को केवल वोट बैंक के रूप में प्रयोग करते रहे। मौलाना आजाद एवं रफीक अहमद

किदवई जैसे मुस्लिम नेताओं के राजनीति से बाहर हो जाने के बाद मुस्लिम समाज और भी नेतृत्व विहीन हो गया। यद्यपि ऐसा नहीं है कि आज भारतीय राजनीति में मुस्लिम नेताओं की नितांत अनुपस्थिति नहीं था फिर भी मुसलमान नेता, सांसद, विधायक, मन्त्री या पार्षद आदि नहीं है। दरअसल जो मुस्लिम नेता है वे सभी किसी न किसी राजनीतिक पार्टी के सदस्य है और प्रत्येक राजनीतिक पर्टी का एक ही उद्देश्य होता है कि किसी भी तरह से सत्ता पर अधिकार कर लिया जाय इसके लिए फिर चाहे किसी भी हद तक गिरना उठना पड़े। इसलिए मुस्लिम राजनेता समाज या राष्ट्र के पहले अपने तथा उसके पास अपनी पार्टी के स्वार्थों की सिद्धि तक ही सीमित रह जाते है। ऐसे में आजम खान, असुद्दीन औवेसी जैसे नामचीन मुस्लिम नेता राजनीति में होकर भी अपने, समाज का कोई हित नहीं करवाते है, सिवाय इसके कि हिन्दू-मुस्लिम, मंदिर-मस्जिद, कुरान-संविधान और भारत-पाकिस्तान व जम्मूकश्मीर के नाम पर समाज में असहिष्णुता और कट्टरता फैलाना ही मुसलमलों का जन्मसिद्ध अधिकार एवं उद्देश्य सिद्ध करने के। हालांकि मुस्लिम नेता ऐसे भी रह रहे है जो तटस्थ राजनीति के सहारे अपने समाज की समस्याओं की राष्ट्रीय पटल पर रखने में सफल रहे हैं लेकिन ऐसे में उनकी आवाज को साम्प्रदायिक और कट्टरपंथी कहकर देश की मीडिया ने गलत तरीके से प्रचारित-प्रसारित किया परिणामस्वरूप डॉ जाकिर हुसैन, फकरुद्दीन अली अहमद एवं डॉ॰ नरुल हसन जैसे तटस्थ व दूरदर्शी राजनेताओं को मुस्लिम समाज को उसके भाग्य पर छोड़कर चुप रह जाना पड़ा।

राजनीतिक नेतृत्व के संकट में जुझ रहे मुस्लिम समाज की वर्तमान स्थिति अधिक संतोषप्रद नहीं है। जिसके लिए विभाजन के समय की साम्प्रदायिक हिंसा को भी उत्तरदायी माना जा सकता है। कारण यह है कि आजादी के बाद भारत का जो विभाजन हुआ उसका आधार धर्म था। हिन्दू के लिए हिन्दुस्तान और मुस्लिम के लिए पाकिस्तान का विधान करके दोनों धर्मो के लोगों को स्वेच्छा से अपना-अपना देश चलने की आजादी दी गयी। लेकिन तुष्टीकरण की राजनीति के चलते साम्प्रदायिक हिंसा भड़क गयी। अधिकांश मुसलमान

पाकिस्तान चले गए लेकिन कुछ मुसलमानो ने भारत की मिट्टी में ही अपने शरीर को दफनाने का संकल्प लिया और यही रुक गये। हिन्दू भी पाकिस्तान से वापस भारत आ गये लेकिन कुछ हिंदुओं ने भी पाकिस्तान में ही रहने का निर्णय लिया। भारत से जो मुसलमान पाकिस्तान गये थे वे धर्म के नाम पर हिंदुओं का नरसंहार करने लगे जिसकी प्रतिक्रिया में भारतीय हिंदू समाज भी शरणार्थी मुसलमानों के साथ अमानवीय व्यवहार करने लगा। मुसलमान भारत में और हिंदू पाकिस्तान में शरणार्थी बन गये।

विभाजन के बाद यह जो साम्प्रदायिकता के आधार पर नरसंहार हुआ था इसने भारतीय मुसलमानों को देश की नजर में सदैव के लिए कट्टर, पाकिस्तानी एवं हिंदू विरोधी बना दिया। इसका कारण यह था कि असहिष्णुता एवं साम्प्रदायिकता की भावना फैलाने का कार्य पाकिस्तान गये मुसलमानों ने ही आरंभ किया था। इस घटना के बाद देश के मुसलमानों के प्रति विश्वास पैदा करने, राष्ट्र, शासन तथा संविधान से इन्हे सम्बद्ध करने के लिए राजनीति को एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ा, मौलाना आजाद के नेतृत्व में भारतीय मुसलमानों ने लखनऊ में एक अधिवेशन किया जिसमे निर्णय लिया गया कि मुसलमान अपना कोई अलग राजनीतिक दल नहीं बनाएंगे। लेकिन उस समय और आज भी मुसलमान इस बात को लेकर अवश्य चिंतित रहते हैं कि हम कांग्रेस या दूसरे राजनीतिक दलों की कठपुतली कब तक बने रहेंगे और हुआ भी यही, कांग्रेस से लेकर आज की आम आदमी पार्टी तक जितने भी राजनीतिक दल रहे, सभी ने अपनी पार्टी में कुछेक मुस्लिम नेताओं को शामिल करके तुष्टीकरण और वोट बैंक की राजनीति करते रहे! राजनीति में धर्म के नाम पर पर पाले गए थे तोते मिया-मिटठू होने का अपना फर्ज निभाते रहे और अपने समुदाय की राजनीतिक उपेक्षा एवं शोषण करते रहे। इन सबका दुष्परिणाम यह है कि न तो किसी नेता या राजनीतिक दल ने दीर्घकाल तक मुस्लिम समाज का विश्वास प्राप्तकर उसे उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास तथा संरक्षण के प्रति आश्वस्त कर सका और न ही मुसलमान किसी एक राजनीतिक दल और नेता के प्रति अधिक दिनो तक अपना

विश्वास ही बनाए रख सके। राष्ट्र, राजनीति, विकास, विश्वास, संविधान आदि की मुख्यधारा से जो उनकी असंपृक्तता बनी रही सो अलग बात है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी ने मुस्लिम समाज में व्याप्त राजनीतिक नेतृत्व के अभाव को असंतोषजनक रूप में अभिव्यक्त किया है। भारत का नागरिक होकर भी हिन्दूस्तान में रहना अपना सबसे बड़ा गुनाह मानता है। "हम गुनाहों में डूबे हुए हैं हम जमाने के सताए हुए है। सिर्फ हम ही नहीं हिन्दुस्तान के सारे मुसलमान मजलूम है।"60

नयी पीढ़ी के मुस्लिम युवक राजनीति के षड़यन्त्र को बखूबी समझ लेते हैं और वे इससे अपने सामर्थ्य से बाहर निकालना चाहते हैं। उपन्यास का पात्र इकबाल अपने समाज का राजनीतिक प्रतिनिधित्व करता है जो बुनकरों को नेताओं के मुखौटे की वास्तविकता बताते हुए कहता है- यह कटौती, यह साजिश, यह बदइंतजामी खत्म होनी चाहिए। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास के इस वर्णन से समझा जा सकता है "बशीर के घर में नल नहीं है। उसके बच्चे बाहर से पानी लाते हैं। पर कर्फ्यू में इसका सवाल ही नहीं उठाता। बाहर नगर महापालिका का जो नल लगा हुआ है उसकी टोटी टूट गई है और हमेशा उससे पानी टपकता है।.....सारे मजूर बुनकर बेकार हो गए हैं। जो लोग मजूरी पर बुनते हैं वह अपने गिरस्तों के यहॉ साड़ी नहीं पहुंचा पा रहे हैं। यही हाल बिक्री पर बिनने वालों का है। रोजा पूरा हो चुका है पर बाहर जाने का सवाल ही नहीं उठाता। मतीन की साड़ी जिस दिन पूरी हुई उसी दिन दंगा हो गया। वह भी हाथ पर हाथ धरे बैठा है। सभी बुनकर परेशान हैं अधिकांश घरों में नल नहीं है आटा खत्म हो चुका है भूखे मरने की नौबत आ गई है लेकिन कर्फ्यू में कोई छूट नहीं है।"65 बशीर मियॉ के घर में पानी और मतीन के घर में आटा हो या न हो इससे समाज और राजनीति के ठेकेदारों को कोई फर्क नहीं पड़ता। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को राजनेता साजिशन पूरी नहीं होने देना चाहते क्योंकि यदि यह समस्याएं ही ना रहेगी तो वह किस आधार पर राजनीति करेंगे और किसकी लालच देकर समाज में दंगा करवायेंगे।

3.4 धार्मिक चेतना की विस्तीर्णता

मानवीय सभ्यता के आरम्भिक सोपान पर मनुष्य ब्रह्माण्ड में होने वाली जिन प्राकृतिक घटनाओं के वैज्ञानिक कारणों से अनभिज्ञ था उसे किसी अज्ञात और अपरा द्वारा संचालित मानने से ही ईश्वर की अवधारणा विकसित हुई। इस ईश्वर की अस्मिता एवं अस्तित्व में विश्वास से मनुष्य को अस्पष्टः किसी कार्य को करने हेतु यथावश्यक साहस धैर्य और आत्मबल मिलता है तथा इससे मनुष्य अपने समक्ष उपस्थित विकट से विकतम परिस्थितियों में भी अपनी सफलता के प्रति आशावादी बना रहता है। परम्परा, परिवेश एवं जनश्रुति के आधार पर ईश्वर के अनेक स्वरूप हो सकते है तथा इनमें से एक धर्म, ईश्वर के किसी एक स्वरूप में पुष्टि का आधार होता है। मनुष्य अपने धर्म में प्रचलित नियमों, विधानों, सिद्धांतो एवं परम्पराओ आदि का अनुपालन करते हुए धर्म से संबंधित ईश्वर को अनुकम्पा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस समग्र अनुक्रिया-प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता में विश्वास एवं उसकी अनुकम्पा को साध्य, उसके अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा किये जाने वाले धार्मिक क्रियाकलाप को साधन तथा साधन को साध्य तक पहुँचाने वाले सरल व सुगम मार्ग को धर्म तथा ईश्वरीय अनुकम्पा प्राप्त करने वाले को साधक कहा जाता है। ईश्वर के प्रति श्रद्धावान बने और धर्म का पालन करते रहने से मनुष्य को एक आध्यात्मिक उर्जा प्राप्त होती है इसलिए वह किसी न किसी धार्मिक क्रियाकलाप के अथवा गतिविधि के माध्यम में मनुष्य ईश्वरीय सत्ता के प्रति अपना विश्वास प्रकट करता रहता है। इन क्रियाकलापों व गतिविधियों का विधान उस धर्म के आधारिक धर्म ग्रंथ से होता है। न तो कालांतर में मनुष्य की महत्वाकांक्षा से भी बढ़ने के कारण जब वह ईश्वर की अनुकम्पा को शीघ्र एवं अधिक मात्रा में प्राप्त करने के उद्देश्य में धर्म ग्रंथों से इतर अपनी-अपनी धारणा और समझ के अनुरूप नयी-नयी उपासना पद्धतियों का प्रवर्तन करने लगा तब धर्म के क्षेत्र में आडम्बरो और अंधविश्वासों का प्रवेश हुआ जो कि या तो धर्मग्रंथों में वर्णित विधानों की गलत व्याख्या-

विवेचना से उत्पन्न हुए या फिर मनुष्य ने अपनी समझ एवं स्वार्थी वृत्ति के अनुरूप उन्हें निर्मित किया। इस तरह से धर्म, ईश्वर एवं उपासना पद्धति आदि के क्षेत्र में जो विविधता और विसंगति उत्पन्न हुई वह अल्पविकसित मानवीय वृत्तियों के कारण पल्लवित, पुष्पित और विकसित होती रही और इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि वर्तमान के तथाकथित शिक्षित परिवेश में एक तथाकथित शिक्षित वर्ग ईश्वर, धर्म और धर्मशास्त्रों असत्य या कपोल कल्पना सिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील हो गया।

किसी व्यक्ति, परिवार या समाज का धार्मिक विश्वास बहुत हद तक उसके धर्म के नैसर्गिक स्वरूप परंपराओं, मान्यताओं तथा दंतकथाओं आदि पर आधारित होती है। कारण यह है कि यह धार्मिक परंपराएं, मान्यताएं और जनश्रुतियाँ स्थान विशेष की भौगोलिक परिस्थितियों में घटने वाली घटनाओं के आधार पर पृथक-पृथक होती हैं इसलिए स्वाभाविक है कि लोगों के धार्मिक विश्वास का स्वरूप भी अपने समाज के परिवेश एवं इतिहास के अनुसार भिन्न-भिन्न होता हो। हिंदू धर्म हो या इस्लाम या फिर अन्य कोई धर्म किसी भी धर्म के मूल स्वरूप में विसंगति नहीं होती बल्कि मनुष्य मात्र का कल्याण ही सभी धर्म का मुख्य स्वरूप होता है। लेकिन जैसा कि पूर्व में वर्णित हो चुका है कि अशिक्षा, अज्ञानता, स्वार्थ, संकीर्ण मानसिकता आदि कारण से प्रत्येक धर्मावलंबी तथा धर्म के आधिकारिक व्याख्या-विश्लेषण अपने-अपने उद्देश्य समझ और विवेक से धर्म की व्याख्या-विवेचना करने के अनुक्रम में अपने धर्म में संख्यातीत विद्रूपताओं को अंतर्भुक्त कर देते हैं। धार्मिक आडंबर, कर्मकांड, अंधविश्वास एवं रूढ़ियों आदि का जन्म इसी प्रक्रिया से होता है। हिंदू एवं मुस्लिम धर्म के साथ भी यही हुआ। साधारण अशिक्षित जनता एवं पंडित मौलवी दोनों के स्वार्थ, अज्ञान आदि कर्म से इनमें समय-समय पर विद्रूपताए पनपती रही वैसे तो बिस्मिल्लाह जी के उपन्यासों में इस्लाम धर्म की विसंगतियों के चित्रण की ही प्रधानता रही है लेकिन कुछ स्थलों पर प्रसंगवश उनमें हिंदू धर्म के आडंबरों, कर्मकांडों एवं अंधविश्वासों आदि पर भी

यथावश्यक दृष्टिपात देखा जा सकता है इस तरह से कह सकते हैं कि बिस्मिल्लाह जी की धार्मिक चेतना, धर्म विशेष की आयामी परिधि को तोड़ने में सफल रही है।

धार्मिक विश्वास एवं अनास्था

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यासो में धार्मिक विश्वासों का यथार्थवादी चित्रण किया है। दरअसल धर्म में विश्वास रखना और धार्मिक क्रियाकलापों में सहभागिता करना किसी भी दृष्टि से अनुचित नहीं है। शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग धर्म में विश्वास में रखता है लेकिन दोनों के विश्वास में समझ के स्तर पर विभेद होता है। समाज का सभ्य एवं शिक्षित व्यक्ति धर्म के मूल स्वरूप, अर्थ एवं उद्देश्य को थोड़ा बहुत समझता है और उस समझ के आधार पर धार्मिक क्रियाकलापो को संपन्न करता है जबकि अशिक्षित व्यक्ति के साथ ऐसा नहीं होता। धर्म संबंधी उसकी मान्यताएँ, विश्वास और समझ अपने विवेक और ज्ञान से निर्मित न होकर जनश्रुति पर आधारित होती है। ऐसे में यदि वह किसी व्यक्ति को किसी पेड़ के नीचे बकरे की बलि देते देखता है और उसे ज्ञात होता है कि इस बलि से देवता खुश होते हैं तो वह भी ऐसा करने की कामना पाल लेता है। क्या संभव है कि अगले दिन वह व्यक्ति भी उस पेड़ के नीचे बकरे की बलि देते या पूजा, अर्चना करते दिखाई दे। इस कार्य को करने से पहले वह रंचमात्र भी तर्क और विचार विज्ञान का आश्रय नहीं लेता है इसलिए उसका यह कृत्य अंधविश्वास और आडम्बर ही कहलाता है।

सुविख्यात उपन्यासकार श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्यात्मक उपन्यास रागदरबारी का पात्र शनीचर गाँव की पगडण्डी पर चलते हुए रास्ते पर लटकी काश में गाँठ लगा देता है जिससे वे रास्ते पर न आये। पीछे से जब कोई उससे इसका कारण पूछता है तो वह कहता है कि इससे देवता प्रसन्न होते है। अगले दिन शनीचर देखता है कि पूरे रास्ते भर की काश पर किसी ने गाँठ लगा दी है। इसी विश्वास को अंधविश्वास और इस तरह के कार्य को आडम्बर की श्रेणी में रखा जाता है। लेकिन जो विवेकशील होता है वह ऐसे किसी कार्य को करने से

पहले गहनता से विचार-विमर्श करता है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में बिस्मिल्लाह जी ने धार्मिक विश्वासों का बड़ा ही ययार्थवादी चिन्तन किया है। छिन्नपुर के इमाम चौक के पास लोग बड़े उत्साह से मोहर्रम का त्योहार मनाते है। उपन्यास के लगभग सभी पात्र धर्म के प्रति आस्था रखते हैं और सभी ग्रामवासी बकरीद के बाद ही मोहर्रम की तैयारी में लग जाते है।

मोहर्रम का चाँद दिखने पर लोगों में अलग ही उत्साह दिखाई देता है जिसमें अनेक तरह की ताजिया निकलती है तथा पीर, औलिया, दुर्गा आदि पर लोगों का विश्वास अटल है। गॉजी मियाँ के मेले का वर्णन इस प्रकार से आया है- "यह मेला बनारस में जेठ महीने में लगता है। इस मेले में बकायदा गॉजी मियॉ के विवाह का आयोजन होता है। मियाँ पर उनका खून चढ़ता है और उनका प्रताप देखिए, यहाँ एक मुहल्ले का नाम ही पड़ गया-गाजी मियाँ"।75 इसी तरह 'जहरबाद' उपन्यास में भी मोहर्रम त्योहार का चित्रण मिलता है- "मोहर्रम के दिन मामू के लड़के को सवारी चढ़ाई जा रही है। अब्बा शहादत नामा में से कोई नौहा पढ़ते है और हमयाली-याली (या अली) करके मातम करते हैं। क्षण भर आबाद रफीक भैया कांपने लगते है और दूध का प्याला मांगते हैं।"76 हालाँकि उपर्युक्त दृष्टांत में धार्मिक विश्वास की अपेक्षा अंधविश्वास एवं कर्मकांड ही अधिक नजर आता है लेकिन इससे यह अवश्य सिद्ध हो जाता है कि गाँव के लोग धर्म के प्रति आस्थावान है। मुखड़ा क्या देखे- उपन्यास जब भूरी की बच्ची बीमार होती है तब स्त्रियाँ गाजी मियाँ के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए करती हैं- "जुम्मा वाले दिन अगरबत्ती सुलगा के गाजी मियाँ से मानता मान लेना।"79

इसी तरह 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में रेहाना की तबियत बिगड़ने पर उसके मामा समीउल्ला मखदूम शाह से पाक बाती लाकर उसे जलाते हैं और लोबान सुलगाकर जब रेहाना को बैठाया जाता है, तब वह छुबवाने लगती है। रेहाना के ऊपर सवारी आती है और वह झूमने लगती है। उसकी माँ उसका जूड़ा खोल देती है। जब उसके

पापा पूछते हैं कि तुम कौन हो तब रेहाना कहती है- "हमें बहादुर शहीद ले चलो, वहीं बतायेंगे।"78 इसी प्रकार रउफ चाचा के हज जाने की मनोकामना कब से किए रहते हैं लेकिन अपनी बदहाल आर्थिक स्थिति के कारण उनकी यह मनोकामना पूरी नहीं होती और अंत में उन्हें काबे की तस्वीर पर अगरबत्ती सुलगाकर ही आत्म संतोष करना पड़ता है। मुखडा क्या देखें उपन्यास में पूरा गाँव की मजार पर प्रति वर्ष मेला लगता है, जिसमे हिंदू या मुसलमान दोनों मन्नते मांगते हैं। इस तरह से स्पष्ट है कि बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में धर्म के प्रति आस्था के चित्रण को विशेष महत्व देते हुए आस्था को मजाक का विषय बनाकर उसका सम्मान किया है।

प्रगतिशील विचारधारा के संपोषक उपन्यासकार अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपने उपन्यासों में धार्मिक आस्था के साथ-साथ धर्म के प्रति लोगों में बढ़ती अनास्था की भावना का भी यथार्थपरक शब्दांकन किया है। आज पूँजीवाद, बाजारवाद, भूमण्डलीकरण आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता की आड़ में लोग धर्म का विरोध करके या उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करके स्वयं को बुद्धिजीवी एवं प्रगतिशील विचारों को सिद्ध करना चाहते हैं। हालांकि धर्म के प्रति इस बढ़ती अनास्था के पीछे तथाकथित ज्ञान और समाज में स्वयं को बुद्धिजीवी, आधुनिक, तार्किक और शिक्षित सिद्ध करने की मानसिकता ही केन्द्र में रही है लेकिन स्वार्थपरायणी प्रवृत्ति और राजनीती के षड़यंत्र के योगदान को भी नकारा नहीं जा सकता है। एक तरफ जहाँ लोग अपने तुच्छ से स्वार्थ 'मुखड़ा क्या देखें' उपन्यास में बुद्ध उर्फ़ अहमद अली सिद्दकी तोते पासी की लड़की भूरी के साथ अंतर्जातीय विवाह करता है जिसे बवाली एक सामाजिक क्रांति मानता है और बुद्धु को प्रगतिशील विचारों का समझकर उससे राजनीतिक क्रांति की भी अपेक्षा रखता है। इसी उपन्यास में पंडित अशोक कुमार पांडे धर्म, परम्परा आदि में विश्वास नहीं करते है। वे अली चूड़िहार की बेटी ताहिरा से मुहब्बत करते हैं और उससे शादी करना चाहते हैं। अपने इस स्वार्थ की पूर्ति के लिए धर्म के बंधन को प्रेम के बंधन की तुलना में अत्यंत कमजोर मानते हैं। उनके लिए प्रेम, की

प्राप्ति के लिए धर्म का परित्याग करना बड़ी बात नही है- "डार्लिंग ताहिरा मै तुमसे मुहब्बत करता हूँ। मुहब्बत करता हूँ। मुहब्बत अंधी होती है। समझ लो मैं भी अंधा हो गया हूॅं। यद्यपि तुम्हारा और मेरा धर्म अलग-अलग है। मगर प्रेम के मार्ग में धर्म का कोई बंधन नहीं होता। यदि तुम मुझे स्वीकार कर लो तो मै अपना धर्म छोड़ दूँगा।"79

आज भाग्यवाद की अपेक्षा कर्मवाद पर लोग अधिक विश्वास करने लगे है जिसकी प्रक्रिया में वे कर्म एवं भाग्य के आपसी संबंधो को नहीं समझ पाते हैं। मुस्लिम युवा पीढ़ी भी कर्म के प्रति अधिक आसक्ति रखने के कारण धर्म की अवज्ञा करने लगी है, जिसके मूल में स्वयं को आधुनिक एवं प्रगतिशील विचारो वाला सिद्ध करना ही है। झीनी-झीनी बीनी चदरिया उपन्यास में जब अलीमून की मृत्य के बाद इकबाल से उसे फातिया दरुद देने को कहा जाता है तो वह क्रोधित होकर कहता है- "जब वह जिंदा थी तब उसकी सेवा नहीं की। लाख सिपारा पढ़ने से उसे तसल्ली नहीं मिलेगी।"80 बिस्मिल्लाह जी के अन्य उपन्यासों में भी इसी तरह के अगणित प्रसंग वर्णित है जिनसे स्पष्टतःअभिज्ञात होता है कि वर्तमान युवा पीढ़ी विभिन्न कारणों और उद्देश्यों से धर्म के प्रति दिन-प्रतिदिन अनास्थावान होती जा रही है। इकबाल जैसे अनेक युवक हैं जो धर्म, ईश्वर, भाग्यवाद आदि की अपेक्षा कर्म, विज्ञान एवं शिक्षा आदि को अधिक महत्व देते हैं हालांकि ऐसा करने के पीछे सबका अपना-अपना ध्येय है इसलिए धर्म के प्रति उभरी यह नई अनास्था आवश्यक नहीं है कि व्यापक लोक कल्याण की भावना से अनुप्राणित हो।

धार्मिक आडम्बर, कर्मकांड एवं अंधविश्वास

बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में धार्मिक विसंगतियों, मसलन-कर्मकांडो, आडम्बरों, अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों आदि को भी यथार्थपरक अभिव्यक्ति प्रदान की है। झीनी-झीनी बीनी चरिया उपन्यास में लतीफ साढ़े तीन सौ की साड़ी बेचता है, सिममें से तीन सौ रुपये कर्ज के हो जाते है । जो पचास रुपये रोज बचता है उसी में से उसे घर के लिए

आटा, चावल, गोश्त एवं अन्य घरेलू चीजे भी खरीदनी होती है लेकिन अमूलभूत आवश्यकताओं की उपेक्षा करके वह अल्ला मियाँ के घर अर्थात् मस्जिद में ग्यारह रुपये का दान कर देता है, जो कि कर्मकांड एवं आडम्बर ही कहा जा सकता है। इसी तरह मोहर्रम के समय मुस्लिम स्त्रियों का चूड़ी पहनना हराम माना जाता है। इस समय उनकी कलाईयाँ सूनी रहती हैं। मोहर्रम के समय गाँव के लोग न तो अच्छा पकवान खाते हैं और न ही किसी तरह के मनोरंजन और शादी विवाद की चर्चा करते है। अंधविश्वास के रूप में गाजी मियाँ को खून चढ़ाना सर्वाधिक विचलित करता है। इसी प्रकार रेहाना के ऊपर सवारी आना, उसका झूमना भी धार्मिक आडम्बर को ही दिखाता है।

जहरबाद उपन्यास में भी रफीक भैय्या के ऊपर खूनी नाल की सवारी आती है। मुस्लिम धर्म में बकरीद के अवसर पर दी जाने वाली कुर्बानी के कुछ नियम है जिसमें से एक यह कि जिसके ऊपर कर्ज का बोझ हो या जिसकी आर्थिक स्थिति ठीक न हो, उसके द्वारा दी गयी कुर्बानी को जायज नहीं माना जाएगा 'झीनी- झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास के मतीन की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती इसलिए मतीन का विचार था कि बकरीद पर कुर्बानी न की जाय लेकिन उसकी पत्नी अलीमून जिद कर लेती है कि वह कुर्बानी दे और वह अंत में चालीस रुपये देकर भैंस का गोश्त मंगवाती है। यहाँ अलीमून की रूढ़िवादी मानसिकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है जो मजहब की परम्परा निभाने के लिए अपनी आर्थिक स्थिति की भी उपेक्षा कर देती है। उसका भावनाओं में बहकर धार्मिक रीति-रिवाजों के पीछे भागना तथा अनावश्यक रूप से हैसियत से अधिक खर्च करना-धर्म के वास्तविक स्वरूप के प्रति अनभिज्ञता एवं कर्मकांडों के प्रति अतिरेकी अनासक्ति प्रकट करता है।

धार्मिक रूढ़ियों से मोहभंग

बिस्मिल्लाह जी की एक विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति यह रही है कि उन्होंने अपने साहित्य में परम्परा एवं आधुनिकता का एक साथ समावेशन किया है। एक तरफ जहाँ वे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियों का वर्णन करते हैं, वही दूसरी तरफ शिक्षा एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से इन विद्रूपताओं का जो दमन हो रहा है, उसका भी संकेतन कर देते हैं। इस तरह से वे परम्परा एवं आधुनिकता, पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी का एक साथ प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं। इसी अनुक्रम में एक ओर उन्होंने धार्मिक रूढ़ियों का चित्रण किया तो वही दूसरी ओर रूढ़ियों से मुक्ति की छटपटाहट भी दिखलाई है। यह मुक्ति की छटपटाहट शिक्षा आधुनिकता एवं वैज्ञानिकता की ही प्रतिक्रिया कही जा सकती है।

'झीनी-झीनी बानों चदरिया' उपन्यास में लतीफ अपनी पत्नी कमरून को तलाक देने के बाद जब उसे फिर से अपने साथ रखना चाहता है तब इसमे इस्लामी कानून शरीअत आड़े आती है जिसके अनुसार कमरून को लतीफ से दोबारा शादी करने के लिए उसे हलाला प्रथा का निवर्हन करना होगा। लतीफ इस धार्मिक रूढ़ि से खिन्न होकर इसका विरोध करता है और शरीअत का कानून तोड़ते हुए कमरून के हलाला किए बिना ही उसे अपने पास रख लेता है। इसी तरह से अलीमून की मृत्यु होने के बाद नजवनिया जब उसके पति मतीन से मुस्लिम रीति के अनुसार सिपारा पढ़ने को बोलती है तब वह मना कर देता है- "नजबून ने एक बार उससे भी कहा कि वह भी एक सिपारा लेकर पढ़ डाले और माँ को बख्श दे लेकिन उसने इंकार कर दिया। नजवनिया इस पर बिगड़ी तो उसने अत्यंत दृढ़तापूर्वक कह दिया यह सब ढ़ोग है, मरने वाला मर गया। अब उसके लिए कोई एक कुरान नहीं दस कुरान पढ़ दे, उससे क्या होने वाला यह सब सरायमदारों का बनाया एक ढकोसला है। खाने-पीने का धंधा है। हमें जो करना चाहिए हम उसकी ओर गौर नहीं करते, उल्टै तरह-तरह के फालतू कामों में फसे रहते है।"83 ऐसे ही 'मुखड़ा क्या देखें' उपन्यास में डॉ० रफीक अहमद सिद्दकी टोटे पासी की लड़की भूरी के साथ विवाह करके

अंतरधार्मिक विवाह जैसी रूढ़ियों का खण्डन करता है। इन सब घटनाओं के वर्णन से स्पष्ट होता है कि बिस्मिल्लाह जी अपने उपन्यासों में धार्मिक रूढ़ियों को तो टूटता हुआ दिखाने के प्रति अधिक सजग रहे हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपने अनुसार अलग-अलग कारणों का विधान करना पड़ा है।

धार्मिक असहिष्णुता एवं पाप-पुण्य संबंधी समस्याएँ

जैसा कि विगत प्रकरणों में उल्लिखित हो चुका है कि अपने राजनीतिक स्वार्थो के के लिए राजनेता धर्म के नाम पर दो धर्म के लोगों को आपस में लड़वाते हैं, उनकी इस स्वार्थपरायणी प्रवृत्ति को आम आदमी समझ नहीं पाता या फिर समझते हुए भी लालच में आकर दूसरे धर्म के लोगो, धर्मग्रन्थों धार्मिक मान्यताओ एवं उपासना स्थलों आदि के संदर्भ में बेतुकी बातें बोलता है। उसकी प्रतिक्रिया में दूसरे धर्म-समुदाय के लोग भी उसके धर्म, धर्मग्रन्थ, धार्मिक मान्यता एवं पूजा स्थल आदि के बारें में अनाप-शनाप बोलता है। धीरे-धीरे बातें इतनी अधिक बढ़ जाती हैं कि दोनों धर्म-समुदाय के लोग एक-दूसरे के रक्तपिपास बन जाते हैं। समाज में दो धर्मो के बीच फैलने वाली इसी हिंसात्मक प्रवृत्ति को धार्मिक असहिष्णुता के नाम से जाना जाता है। लेकिन समाज में कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो राजनीति की इस घृणित चाल को समझते हैं और किसी भी राजनेता के उकसावे में आकर वे ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहते जिससे समाज में धार्मिक सहिष्णुता की भावना को ठेस पहुँचे। ऐसे लोग ही संविधान प्रदत्त पंथ निरपेक्षता के अधिकार का वास्तविक उपयोग करने वाले होते हैं।

'समर शेष है' उपन्यास का कथानायक बीमार होता है तो छात्रावास के हिन्दू विद्यार्थी उसे देखने और उसका हाल-चाल लेने आते हैं तथा जाते समय उसे रामायण प्रोग्राम में सम्मिलित होने का निमंत्रण भी देकर मंदिर भी बुलाते है। इस बुलावे से 'मैं' खुश हो जाता है और जब उसके साथी इस बारे में उससे बात करते हैं तो वह कहता है- " मैं खाली कटुआ

मुसलमान नहीं हूँ, समझे और मैं पंजीरी (प्रसाद) भी सबसे ज्यादा खाऊँगा।"84 धार्मिक-साम्प्रदायिक सौहार्द की ऐसी ही एक स्थिति का चित्रण 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में पोस्टमास्टर और पंडित सृष्टिनारायण पांडे के बीच होने वाली धार्मिक चर्चा के समय देखने को मिलता है। सत्तार की जो पुस्तक मिलती है- 'कल्कि अवतार और मुहम्मद साहब- "उसमें लिखा होता है कि जैसे कुरान अल्ला की किताब है वैसे ही वेद भी ईश्वरीय ग्रंथ है।" इसी तरह 'समर शेष है' उपन्यास में कथानायक 'मैं' भूख लगने पर अपने मित्र छोटू से अपने जीवन की व्यथा-कथा कहते हुए उससे रोटी खिलाने के लिए कहता है। इसी उपन्यास में धार्मिक-साम्प्रदायिक सौहार्द्रता का वर्णन करते हुए उपन्यासकार ने एक स्थल पर इसके कारणों के संबंध में लिखा है- "हिन्दू और मुस्लियों में जातीय भेदभाव है यहाँ वैमनस्य, द्वैष सामाजिक परिप्रेक्ष्य में फैला हुआ था।

मुसलमान इस देश में आए यहाँ की भोली-भाली जनता को उन्होंने बरगलाया। इस्लामी मसावत की तकरीर पिलाई गयी और समाज में बराबरी का दर्जा पाने के लिए वे मुसलमान हो गए। हिंदू समाज में जो नाई था, वह मुस्लिम समाज में नाई ही रहा सिर्फ वह राम प्रसाद से रहमान हो गया। हिंदूइया नाई से मुसलमानिया नाई बन गया। ठाकुर सब पठान हो गये। जो ब्राह्मण बदले वे सैय्यद हो गये। दोनों में समानता रही और दोनों समझने लगे।"85 यद्यपि उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में सहिष्णुता की भावना या कल्पना का चित्रण करके समाज में समरसता एवं सौहार्द्र की स्थिति स्थापित करने का प्रयत्न किया है लेकिन इसकी तुलना में युगीन धार्मिक असहिष्णुता की स्थिति भारी पड़ती है। समाज में सहिष्णुता की स्थिति तो कुछेक गिने-चुने स्थलों पर ही दृष्टिगोचर होती है जबकि असहिष्णुता और साम्प्रदायिकता की स्थिति तो समाज में सर्वत्र व्याप्त देखी जा सकती है। बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासो में जो सामाजिक-धार्मिक समरसता की कल्पना की है वो उनका साहित्यिक धर्म है जबकि वास्तविकता तो यह है, कि आज एक-धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को जिंदा रहते देखना ही नहीं चाहते हैं। ईद, होली, दीपावली, दुर्गापूजा-

दशहरा, मुहर्रम आदि धार्मिक उत्सवों के समय जो साम्प्रदायिक दंगे भड़कते है उनमें किसी एक धर्म को ही नहीं बल्कि दोनो धर्म के लोगों का सामाजिक, धार्मिक एवं मानवीय ह्रास होता है। समाज के कुछ आराजक तत्वों द्वारा किये जाने वाले इस घृणित एवं अवांछनीय कृत्य से जहाँ धर्म के मूल सिद्धान्तों एवं उद्देश्यो आदि की बुनियाद पर प्रहार होता है वही इससे मानवता का भी चीर हरण होता है।

'जहरबाद' उपन्यास में हमे जो धार्मिक सहिष्णुता एवं सौहाद्र की स्थिति दिखाई देती है वह 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' में घोर साम्प्रदायिकता में परिवर्तित हो जाती है। यहाँ बच्चों के बीच होने वाला क्रिकेट मैच भी हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान में विभाजित हो जाता है। दुर्गापूजा एवं ताजिए के अवसर पर भड़के साम्प्रदायिक दंगों के कारण बनारस में हर तरफ भय का माहौल व्याप्त हो जाता है। "मनपुरा गांव में प्रत्येक साल दुर्गा की मूर्ति एवं हाजिया बिठाने को लेकर हिंदू-मुसलमान के बीच संघर्ष होता है। दुर्गा की प्रतिमा जैसे ही एक गली विशेष में पहुँचती है, उस पर छत से पत्थर का टुकड़ा फेंका जाता है जो कि मूर्ति के सिर पर गिरता है। इसके बाद अचानक छत से बारिश होने लगती है। पत्थरों, ईट के टूकडों और खाली बोतलों की बारिश। फिर पिसा हुआ मिर्च और तेजाब। भगदड़ मच जाती है। थोड़ी देर में जवाबी कार्यवाही शुरू हो जाती है, छूरे निकल आते हैं, बंदूके निकल आती है। कई घरो में, कई दुकानों में आग लगा दी जाती है। सड़क पर जो भी दिखाई देता है मार डाला जाता है। खून ही खून, आग-ही-आग मनुष्य के भीतर छिपा हुआ असुर बाहर आ जाता है।"86 दुर्गा की प्रतिमा पर पत्थरबाजी करना कोई नई घटना नहीं है यह प्रत्येक साल घटती है और कभी-कभी तो मंदिरों में मांस फेंकने, देवताओं की प्रतिमाएँ तोड़ने आदि में परिवर्तित हो जाती है। इसी तरह साम्प्रदायिक दंगों के समय निरपराध लोगों की हत्या करना, लड़कियो और औरतो की इज्जत लूटना भी कोई नवीन घटना नहीं है। उपन्यास में फिलहाल मुस्लिम औरतो का बलात्कार एवं उनकी हत्या की जाती है। दोनो धर्म के ठेकेदार एवं नेता अपने-अपने धार्मिक संगठन को जुटाने में व्यस्त है। उन्हें हत्या, बलात्कार तथा

कर्फ्यू आदि घटनाओं से कोई मतलब नहीं है, फिर चाहे छोहरा पर कोई मुसलमान किसी हिंदू लड़के को चाकू मारे या फिर कोई हिंदू धर्म की ओट में किसी मस्जिद में आग लगाए। सम्प्रदायिकता भड़काने वाले घर में बैठे इन नाटकीय दृश्यों का रसोद्रेक करते रहते हैं। इसी तरह 'दंतकथा' उपन्यास में आमआदमी का प्रतीक बनकर धर्म परिवर्तन के कारण होने वाले साम्प्रदायिक झगड़े का चित्रण करता है।

धर्मांतरण जैसी विद्रूपता को भी धर्म के ठेकेदार एवं राजनेता ही बढ़ावा देते हैं और जब इससे साम्प्रदायिक दंगे भड़कते है तब उन दंगों में आम-आदमी ही पिसता है। धर्म का पता लगाकर ही निर्दोष लोगो की हत्या की जाती है। उपन्यास में इसका वर्णन इस तरह से आया है- "यानी खुद अगर हिंदू हैं तो मुसलमान का खून करते और खुद अगर मुसलमान हैं तो हिंदू का खून करते है।"87 इस उपन्यास में नेताओं को सांप का प्रतीक बनाया गया है जिनके लिए डसने हेतु हिन्दू-मुसलमान का खून मायने नहीं रखता। सांप रूपी नेता डसते समय यह नहीं देखते है कि इसका खून हिंदू का है या मुसलमान का, बल्कि वे दोनों धर्मों से सम्बद्ध लोगो का शोषण करते हैं। ऐसे ही 'मुखड़ा क्या देखें' उपन्यास में साम्प्रदायिकता के लिए अनवर और उषा के अंतर्धमीय प्रेम को आधार बनाकर धार्मिक असहिष्णुता फैलाई जाती है जिसमे न जाने कितने निर्दोष लोगों की हत्या हो जाती है- "जबलपुर के एक सेठ का लड़का है अनवर और दूसरे सेठ की लड़की है उषा दोनों में कुछ प्यार-मुहब्बत हो गयी बस.....नामुरादो को मौका मिल गया। लड़ पड़े। अब न जाने कितने बेगुनाहों का खून बहा रहा है।"88

पाप और पुण्य की भावना भी धर्म से ही संबंधित होती है, इसलिए बिस्मिल्लाह जी ने इसे भी अपने उपन्यासों में महत्व दिया है। 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास में पाप के भय एवं पुण्य की लालसा में भी अलीमून अपने पति से मोहर्रम पर कुर्बानी दिलवाने की जिद करती है, जबकि उसकी आर्थिक स्थिति अत्यंत ही दयनीय होती है। वह अपने बक्से से

40 रूपये निकाल कर मतीन को देती है और देकर भैंस में हिस्सा मंगवाती है, जिससे उनका इकलौता बेटा इस दिन प्रासाद से वंचित रह जाए। इसी तरह साड़ी बेचने के बाद बचे पचास रुपये में से मतीन का इग्यारह रुपये मस्जिद में दान करने का उद्देश्य भी पुण्य अर्जित करना ही होता है। इसी तरह दंतकथा, रावी लिखता है, और समर शेष है, जहरबाद, कुठॉव तथा मुखडा क्या देखें आदि उपन्यासों में भी अनेक स्थलो पर पाप-पुण्य का संदर्भ दिखाई देता है।

वैसे तो अब्दुल बिस्मिल्लाह जी ने अपने लगभग सभी उपन्यासों में कमोवेश धार्मिक प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विसंगतियों और परिवर्तनों आदि का चित्रण किया है लेकिन जहरबाद, मुखड़ा क्या देखें, समर शेष है, झीनी-झीनी बीनी चदरिया एवं अपवित्र आख्यान में यह चित्रण मात्रात्मकता एवं परिमाणात्मकता दोनों में अधिक रहा।उनका 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' उपन्यास तो एक ऐसा बगीचा है जहाँ धर्म, समाज, राजनीति, संस्कृति एवं अर्थ के क्षेत्र में व्याप्त प्रत्येक तरह की विसंगतियों, विद्रूताओं रूपी पुष्प सहजता से मिल सकते है।

धर्म के संदर्भ में देखें तो कुठॉव, अपवित्र आख्यान और 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' नामक तीनों उपन्यास इस जीवन-क्षेत्र को सर्वाधिक उत्तमता एवं यथार्थ परकता के साथ अभिव्यक्ति करने में सफल रहे है। जहरबाद, समर शेष है, दंतकथा, मुखड़ा क्या देखे तथा रावी लिखता है आदि उपन्यासों में भी यत्र-तत्र धर्म विषयक अनेक संगतियो-विसंगतियों का चित्रण मिलता है। इनमे धर्म और देवी-देवताओं के प्रति आस्था, धार्मिक क्रिया-कलाप के रूप पूजा-पाठ, नमाज, पर्व-त्यौहार, व्रत-उपवास, मनौतियां, भाग्यवादिता, अंधविश्वास, आडम्बर, कर्मकांड, रूढ़ियों, मान्यताओं, शुभाशुभ, पाप-पुण्य, बलिप्रथा, अनास्था, भूत-प्रेत, ताबीज, झाड़-फूंक, धर्मांधता अथवा साम्प्रदायिकता, धर्मांतरण, स्त्री शोषण, स्वार्थ सिद्धि, कट्टरता, धर्म एवं विज्ञान तथा धर्म एवं तर्क तथा धर्म एवं आधुनिकता का मेल आदि धार्मिक

संगतियों-विसंगतियों का वास्तविक शब्दांकन देखने को मिलता है। इस तरह से कह सकते है कि बिस्मिल्लाह जी ने अपने उपन्यासों में, धर्म एवं धार्मिक जीवन के लगभग सभी पहलुओं को संवेदनात्मक स्पर्श किया है। इस स्पर्श में उनका युगसत्य एवं अनुभूत सत्य दोनों समाहित रहा है।

संदर्भ-सूची

1. साहित्य का उद्देश्य, प्रेमचंद, पृष्ठ संख्या- 1, 60

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ संख्या- 345, 367

3. आलोचना, संपादक, मधुरेश, पृष्ठ संख्या- 17

4. काव्य के रूपं, डॉ॰ गुलाबराय पृष्ठ संख्या- 163

5. साहित्यालोचन डॉ॰ श्यामसुंदरदास पृष्ठ संख्या- 105

6. हिन्दी उपन्यास: उद्भव और विकास, हेतु भारद्वाज पृष्ठ संख्या- 3

7. हिंदी उपन्यास, संपादक, सुषमा प्रियदर्शनी पृष्ठ संख्या- 13

8. साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक चेतना, कृष्ण कुमारचन्द्र पृष्ठ संख्या- 11

9. Amald catle - Am inturaduction to the Study of Literature.1945. P-28

10. Loud D. Sesil-Hardy the best Novelist P- 16

11. हिन्दी साहित्य: उद्भव एवं विकास, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी पृष्ठ संख्या-413

12. मेकिंग ऑफ लिटरेचर, स्काट जेम्स, पृष्ठ संख्या- 355-356

13. आधुनिक हिन्दी साहित्य, डॉ॰ नन्द दुलारे वाजपेयी, पृष्ठ संख्या- 123

14. काव्यशास्त्र, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, पृष्ठ संख्या-73

15. साहित्यालोचन, डॉ॰ श्याम सुंदर दास, पृष्ठ संख्या- 105

16. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 40

17. वही, पृष्ठ संख्या- 23

18. वही, पृष्ठ संख्या- 54

19. वही, पृष्ठ संख्या- 125

20. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 9

21. वही, पृष्ठ संख्या- 43

22. वही, पृष्ठ संख्या- 81

23. वही, पृष्ठ संख्या- 94

24. वही, पृष्ठ संख्या- 97

25. अनदेखे अंधेरों की कथा, लेख-चंद्रकला त्रिपाठी, पृष्ठ संख्या-70

26. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 92

27. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 44

28. समकालीन कथा-साहित्य: एक स्वप्न, संपादक- चंद्रदेव यादव, पृष्ठ संख्या- 80

29. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 43

30. वही, पृष्ठ संख्या- 39

31. वही, पृष्ठ संख्या- 109

32. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 74

33. वही, पृष्ठ संख्या- 133

34. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 11

35. वही, पृष्ठ संख्या- 144

36. वही, पृष्ठ संख्या- 162

37. वही, पृष्ठ संख्या- 136

38. वही, पृष्ठ संख्या- 137

39. वही, पृष्ठ संख्या- 233

40. वही, पृष्ठ संख्या- 176

41. वही, पृष्ठ संख्या- 8

42. वही, पृष्ठ संख्या- 49

43. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 12

44. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 12

45. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 98

46. वही, पृष्ठ संख्या- 72

47. वही, पृष्ठ संख्या- 155

48. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 8

49. कथाकार अब्दुल बिस्मिल्लाह:मूल्यांकन के विविध आयाम, संपादक- डॉ० एम फिरोजखान, डॉ० ए० के० पाण्डेय पृष्ठ संख्या- 75

50. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 103

51. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 37

52. वही, पृष्ठ संख्या- 48

53. वही, पृष्ठ संख्या- 39

54. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 194

55. वही, पृष्ठ संख्या- 165

56. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 21

57. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 141

58. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 149

59. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 87

60. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 160

61. वही, पृष्ठ संख्या- 229

62. वही, पृष्ठ संख्या- 191

63. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 143

64. वही, पृष्ठ संख्या- 165

65. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 194

66. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 176

67. वही, पृष्ठ संख्या- 58

68. वही, पृष्ठ संख्या- 82

69. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 201

70. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 52

71. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 37,57,58

72. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 184

73. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 23

74. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 204

75. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 191,206

76. वही, पृष्ठ संख्या- 159

77. वही, पृष्ठ संख्या- 192

78. समर शेष है, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 85

79. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 86,12

80. अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा साहित्य में संघर्षरत आम आदमी, डॉ॰ शेख सरफोद्दीन फक्रोद्दीन, पृष्ठ संख्या- 128

81. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 162

82. दंतकथा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 81

83. मुखड़ा क्या देखे, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 86,79,152,109

84. झीनी-झीनी बीनी चदरिया, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 114, 87,53

85. जहरबाद, अब्दुल बिस्मिल्लाह पृष्ठ संख्या- 8, 94

86. कुठॉव, अब्दुल बिस्मिल्लाह, पृष्ठ संख्या- 106